विपाशा

आवरण: मुखपृष्ठ— मौसम का प्रथम हिमपात, **अंतिम पृष्ठ**—मूदृश्य (विवरण पृष्ठ ९६ पर) दोनों पारदर्शियां: देवव्रत चक्रवर्ती

ऊपर का चित्र-पारंपरिक गद्दी नृत्य पारदर्शी: हाकम शर्मा

विपाशा

साहित्य, संस्कृति एवं कला की द्वैमासिकी
वर्ष-२, अंक-११, नवम्बर-दिसम्बर १९८६

मुख्य संपादक
श्रीनिवास जोशी
निदेशक, भाषा एवं संस्कृति, हि० प्र०

संपादक
तुलसी रमण

संपर्क : संपादक-विपाशा, भाषा एवं संस्कृति विभाग, हि० प्र०
शिमला-१७१००१ दूरभाष : ३६६६, ६८४६

वार्षिक शुल्क : छः रुपये, एक प्रति : एक रुपया

क्रम

पाठकीय

अंक नौ

वीरेन्द्र सिंह (चंडीगढ़) : विपाशा के इस अंक में राष्ट्रकवि मैथिलीशरण गुप्त को लेकर जो सामग्री दी गयी है उससे इस साहित्यकार के राष्ट्र और उसकी जनता के प्रति उत्तरदायित्व की जो बात रह-रहकर झलकती है वह आज के रचनाकार के संदर्भ में दिखाई नहीं देती । इस बात की ओर 'संपादकीय' में भी संकेत किया गया है कि राष्ट्र के लिए एक साहित्यकार के योगदान का सवाल ज्वलंत हो उठता है । इस दृष्टि से आज के अधिकांश लेखक एक तरह के भटकाव के तहत निरुद्देश्य से दिखाई देते हैं । माना वे समाज के दलित एवं पीड़ित वर्ग के दुःख-दर्द से जुड़े हैं । मध्य एवं निम्नवर्ग के हितों के हिमायती हैं । लेकिन इन सब बातों को राष्ट्र के सामूहिक आह्वान के तौर पर खड़ा करने की कोशिश नहीं देखी जाती । बल्कि उल्टा उधार की वैचारिकता को ढोते दिखाई देते हैं और इसमें बड़ी शान समझी जाती है । हमारी इस तरह की मानसिकता भी काफी हद तक राष्ट्रीय एकात्मकता के आड़े आ रही लगती है । क्योंकि जिस देश में सब कुछ हांक मारने पर होता तो वहां राष्ट्र के प्रति आस्था के लिए भी संभवतः वही हांक काम दे सकती है । क्या कारण है कि आज़ादी हासिल करने के बाद हमने राष्ट्रीय भावना को एक तरह से किनारे छोड़ दिया, जबकि असली आज़ादी उसकी समृद्धि में ही निहित है । आज ऐसे दौर में जबकि राष्ट्रीय अखंडता का प्रश्न फिर से झकझोर रहा है हमारे बुद्धिजीवी और साहित्यकार दुनिया की बड़ी शक्तियों की हिमायत करने में बंटे दिखाई देते हैं । अपने राष्ट्र पर एकाग्र होकर कोई समर्पित भाव से काम करता नहीं दिखाई देता । यह अपने आपमें चिंता का विषय है । आज़ादी से पहले संभवतः आज़ादी के लोभ में ही बहुत लोग ऐसे थे जिन्हें स्वार्थ से बढ़कर राष्ट्र का हित भाता था । लेकिन आज स्वार्थ इतना व्यापक हो गया है कि राष्ट्रीय दृष्टिकोण से हम जैसे सोचना-समझना ही भूल गये हों ।

महेन्द्र तिवारी (दिल्ली) विपाशा के कुछ अंक देखे । पत्रिका अपने रूप से ही आकर्षित करती है । इसकी प्रोडक्शन सचमुच सराहनीय है और जिस गरिमा के साथ इसे निकाला जा रहा है, इसे और आगे बढ़ाने के लिए और अधिक अच्छी रचनाएं जुटायी जा सकें तो यह एक उल्लेखनीय काम होगा । हिमाचल प्रदेश की पारंपरिक कला और संस्कृति से संबंधित सामग्री निश्चित रूप से पहाड़ों की विलक्षणताओं की ओर जिज्ञासा के साथ आकर्षित करती है । पहाड़ी चित्रकला और वहां के प्राकृतिक दृश्यों की जो पारदर्शियां इसमें प्रकाशित की जा रही हैं वह अपना अलग महत्त्व रखती हैं ।

सुधा शर्मा (देहरादून) विपाशा का अंक नौ दिल्ली से खरीदा। पहली बार यह पत्रिका देखी और बहुत अच्छी लगी। सारी सामग्री पढ़ने पर इस अंक की दोनों कहानियां कमज़ोर हैं, लेकिन राजी सेठ का उपन्यास अंश अपना प्रभाव छोड़ता है, इन कहानियों से भी कहीं बढ़कर। नरेन्द्र निर्मोही की कुछ अच्छी कहानियां पहले पढ़ी हैं लेकिन यह कहानी उनके मुकाबले बहुत ढीली लगती है। कविताओं में दीनू कश्यप और मालचंद तिवाड़ी की रचनाएं बेहतर हैं। 'देशांतर' के अन्तर्गत विदेशी रचनाओं का अनुवाद भी देते हैं, यह क्षेत्रीय पाठकों के लिए बहुत उपयोगी है जिन्हें ऐसी चीज़ें नाम मात्र को भी नहीं मिलतीं।

योगेन्द्र वर्मा (शिमला) : अंक नौ में 'कलायोगी आनन्दकुमार स्वामी' पर पं० सन्तराम वत्स्य का लेख बहुत अच्छा बन पड़ा है। इस तरह के लेख विभिन्न साहित्यकारों एवं कलाकारों को लेकर दिये जाने चाहिए जो कि जिज्ञासु विद्यार्थियों के लिए भी उपयोगी सिद्ध हो सकते हैं। लेकिन 'साहित्य और जीवन दर्शन' शीर्षक से डॉ० कमला माहेश्वरी का लेख इधर-उधर से जोड़कर लिखा गया सतही शोध कार्य जैसा है जबकि ऐसे विषयों पर मौलिक चिंतन प्रधान लेखन अधिक महत्त्व रखता है। साहित्यकारों के ऐसे चित्र भी दिये जाते जैसा राष्ट्रकवि मैथिलीशरण गुप्त का दिया गया है तो संग्रहणशील विद्यार्थियों के लिए उपयोगी हो सकते हैं। पारदर्शियां तो संग्रहणीय हैं ही। अगर इस दृष्टि से देखा जाए तो सस्ते में कीमती सामग्री उपलब्ध करायी जा रही है। संभवतः इससे लोग कुछ सही पढ़ने की ओर अग्रसर हों।

ब्रह्मदेव शर्मा (ऊना) : अंक नौ में संस्कृत दिवस समारोह का विवरण पढ़कर ऐसा लगा कि अब विभागीय आयोजन केवल मात्र औपचारिक न रहकर, ऐसे हो गये हैं जिनमें कुछ गहराई से विचार विमर्श भी होता है। इस संदर्भ में श्री शालिग्राम जी की यह बात उल्लेखनीय है कि 'एक भाषा की बड़ी से बड़ी डिग्री होने पर भी यदि वे उस भाषा को बोल या लिख न सकें तो इसे हमारी शिक्षा प्रणाली और हमारे अध्यापकों की कमी ही कहा जाएगा। छात्र टीकाएं रटकर परीक्षाएं पास कर लेते हैं। उनमें ज्ञान हासिल करने की जिज्ञासा ही नहीं।' वास्तव में यह ऐसा चिन्ता का विषय है, जिसकी ओर हमारा या तो ध्यान ही नहीं जा रहा या इसे प्राथमिकता योग्य न समझकर पीछे रहने दिया जाता है। और स्थिति यह हो गयी है कि विद्यार्थियों के माता-पिता भी यह नहीं चाहते कि हमारी सन्तानें कुछ ज्ञान प्राप्त करें बल्कि इच्छा यह रहती है कि झटाझट पास होते जाएं और सरकारी नौकरी कर लें। इसके लिए जब तक सरकारी नौकरी में एकमात्र योग्यता को ही आधार नहीं माना जाता और वह योग्यता भी ईमानदारी से आंकी जाए यानी कोई ऐसी प्रणाली हो जिससे असली योग्य और नकली योग्य में भेद हो सके तभी ज्ञान के प्रति जिज्ञासा हो सकेगी। वर्ना क्रिकेट और फिल्मों के ज्ञान के अतिरिक्त यह ज्ञानमय देश शीघ्र ही ज्ञान शून्य हो जाएगा।

सत्य मोहन (सोलन) विपाशा का यह अंक पढ़कर लगा कि पत्रिका का स्तर छपाई के आधार पर बराबर आगे निकल रहा है। लेकिन यह आज की नई कविता बहुत कम समझ में आती है। सारी सामग्री काफी गम्भीर किस्म की रहती है, इसलिए यह पूरे परिवार के पढ़ने की नहीं रह जाती। बहुत बार कहानी भी समझ में नहीं आती। लेकिन इन सब बातों के रहते भी ऐसा ज़रूर लगता है कि यह अपनी तरह की अलग पत्रिका है जिसका हर अंक एक किताब की तरह है। उषा-अनिरुद्ध चित्र-सीरीज़ रोचक और संग्रहणीय है। हिमाचल प्रदेश की प्राचीन-संस्कृति को लेकर जो सामग्री इसमें दी जा रही है उससे इस प्रदेश के प्राचीन गौरव की झलक मिलती है। इस संबंध में मियां गोवर्धन सिंह के लेख बहुत महत्त्वपूर्ण हैं।

संपादकीय

मनुष्य पर विश्वास

"साहित्य जो मनुष्य मात्र की मंगल भावना से लिखा गया हो और जीवन के प्रति एक सुप्रतिष्ठित दृष्टि पर आधारित हो...मनुष्य को अज्ञान, मोह, कुसंस्कार और परमुखापेक्षिता से बचाना ही साहित्य का वास्तविक लक्ष्य है। इससे छोटे लक्ष्य की बात मुझे अच्छी नहीं लगती।"

"सुविधाओं का पा लेना ही बड़ी बात नहीं, प्राप्त सुविधाओं को मनुष्य मात्र के मंगल के लिए नियोजित कर सकना ही बड़ी बात है। हमारी राजनीति, हमारी अर्थ-नीति और हमारी नवनिर्माण की योजनाएं तभी सर्वमंगलीय विधायिनी बन सकेंगी जब हमारा हृदय उदार और संवेदनशील होगा, बुद्धि सूक्ष्म और सारग्राहिणी होगी और संकल्प महान् और शुभ होगा।"

"पुरानी रूढ़ियों का मैं पक्षपाती नहीं हूं। परन्तु संयम और निष्ठा पुरानी रूढ़ियां नहीं हैं। वे मनुष्य के दीर्घ अभ्यास से उपलब्ध गुण हैं और दीर्घ आयास से ही पाये जाते हैं।"

"मनुष्य को, व्यक्ति मनुष्य को नहीं बल्कि समष्टि मनुष्य को, आर्थिक सामाजिक और राजनीतिक शोषण से मुक्त करना होगा। जब तक यह नहीं होता तब तक हम विश्व में मानवतावाद को प्रतिष्ठित नहीं कर सकते।"

"सभ्यता और संस्कृतियों के इतिहास से यही तथ्य प्रकट होता है कि मनुष्य समस्त संस्कारों, समस्त आरोपित मूल्यों और समस्त रीति रहस्यों से बड़ा है। मनुष्यता की निरन्तर प्रवहमान धारा नाना मूल्यों से शक्ति ग्रहण करती हुई आगे बढ़ती आ रही है। मनुष्य का इतिहास इन्हीं साधनाओं का इतिहास है। उसने आदिम कही जाने वाली मनोवृत्तियों के साथ अपने को नहीं छोड़ दिया, प्रयोजन की संकीर्णता की बेड़ियों से अपने को नहीं बंधने दिया। मृत्यु के नागपाश में अपने को नहीं फंसने दिया। सब कुछ को रौंदकर, सब कुछ को छोड़कर वह न जाने किस विजय यात्रा पर निकल पड़ा है।"

"जब मनुष्य अपने को दलित द्राक्षा के समान निचोड़कर सर्व के लिए उत्सर्ग कर देता है, तभी उसका जीवन चरितार्थ होता है, तभी उसका श्रेष्ठ रूप प्रकट होता है। मनुष्य में कुछ पशु संस्कार भी हैं जो थोड़ी-सी उत्तेजना पाते ही झनझना उठते हैं। उसके स्वार्थों को तेज कर देते हैं और इसीलिए संसार में मार-काट, नोच-खसोट और झगड़े-टंटे भी दिखाई पड़ते हैं। किन्तु इनके बावजूद मुझे मनुष्य पर विश्वास है। मैं

जानता हूं ये युद्ध और प्रतिहिंसा के भाव क्षणिक हैं—स्थायी है अपने को उत्सर्ग करके महाकाल की लीला में सहायक होने की मानसोल्लासिनी वेदना। यद्यपि मनुष्य के नाखून बढ़ते जा रहे हैं फिर भी मुझे विश्वास है वह उन्हें बढ़ने नहीं देगा क्योंकि पशु बनकर वह आगे बढ़ नहीं सकता। आत्मदान में ही उसकी सिद्धि है।"

इस बात से कौन परिचित नहीं कि ऊपर लिखित विचार व्यक्त करने वाले आचार्य द्विवेदी ने मनुष्य में बराबर विश्वास रखते हुए आजीवन बड़े लक्ष्य की ही बात की है। उनका मनुष्य किसी भी दृष्टि से संकुचित नहीं है। बल्कि वह साधनाओं के नैरन्तर्य से गुज़रते हुए 'सर्व के लिए उत्सर्ग' की ओर अग्रसर होता है। मानव मूल्यों के ह्रास और आज की आपाधापी को देखते हुए भी मनुष्य की जय यात्रा को लेकर उनका विश्वास विचलित नहीं होता। इस विश्वास की दृढ़ता में ही कहीं मानवता के बचे रहने के बीज निहित हैं।

द्विवेदी जी की मानवता खंड-खंड में बंटी हुई नहीं है बल्कि वह एक विराट मानवता को साक्षात् देखते हैं। उनके उपन्यास 'बाणभट्ट की आत्मकथा' में भट्टिनी कहती है—"इस नर लोक से लेकर किन्नर लोक तक एक ही रागात्मक हृदय व्याप्त है।" और इसी तरह एक जगह वह 'सारे संसार के मनुष्यों की एक सामान्य संस्कृति' की भी परिकल्पना करते हैं। अपने सत्य को जगत् का सत्य, व्यवहार का सत्य, परमार्थ का सत्य और त्रिकाल का सत्य मानने वाले आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी विपाशा के इस अंक की 'निधि' हैं। उनके व्यापक रचना एवं ज्ञान लोक को चंद पृष्ठों में समेट पाना तो कतई संभव नहीं, लेकिन इसकी ओर इंगित भर करने का प्रयास किया गया है।

श्री मनोहर श्याम जोशी का 'जाल डालना' और द्विवेदी जी का 'पिघल भै पानी' वाला सामर्थ्य इस महत्त्वपूर्ण साक्षात्कार में देखते ही बनता है। यहां इस लम्बे संवाद को पूरा तो नहीं दिया जा सका लेकिन जितना है वह भी कुछ कम नहीं। इसके अतिरिक्त डॉ० इन्द्रनाथ मदान का निबंधांश जहां द्विवेदी जी के वैचारिक पक्ष और कृतित्व पर प्रकाश डालता है वहीं 'बाणभट्ट की आत्मकथा' का अंश उनके रचनात्मक तेवर का एक नमूना है।

'देशान्तर' के अन्तर्गत पाब्लो नेरूदा की कविताएं भी इस अंक में जा रही हैं। इसके अतिरिक्त कहानियां, कविताएं तथा लोक-संस्कृति व इतिहास जैसे विविध विषयों पर भी सामग्री गयी है। पाठकों की प्रतिक्रिया की अपेक्षा रहेगी।

निधि

डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी

1907-1979
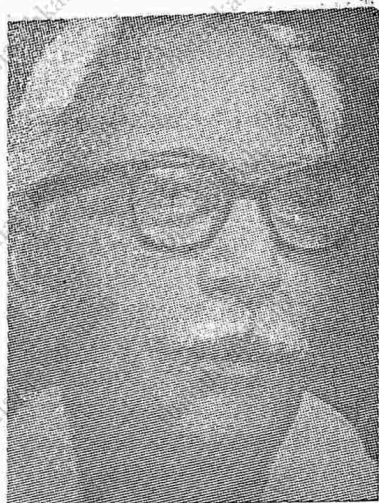
"आचार्य हज़ारी प्रसाद द्विवेदी के साथ एक आख्यान युग समाप्त हो गया। संस्कृत साहित्य के पुराख्यान को हिन्दी की प्रकृति में ढालने का अभूतपूर्व प्रयोग पाश्चात्य उपन्यास कला से सर्वथा भिन्न, नितान्त पौर्वात्य और मौलिक। वे जन्मजात कथाकार थे।...भारतीय धर्म, दर्शन एवं साहित्य की समस्त साधनाओं और परम्पराओं को पूर्ण सहानुभूति से आत्मसात करने; पुरातत्व, नृतत्त्व-शास्त्र, प्राणि विज्ञान आदि के परिप्रेक्ष्य में परखने और उसे नये इतिहास बोध से जोड़ने के प्रयत्न में आचार्य द्विवेदी ने बड़े साहस और सहिष्णुता का परिचय दिया है। इसीलिए वे प्राचीनों को प्राचीन और आधुनिकों को आधुनिक लगे। उन्होंने मनुष्य को केन्द्र बनाकर साहित्य और इतिहास के अध्ययन को जन आंदोलनों से जोड़ा और सिद्धों तथा संतों की वाणी की सामाजिक विद्रोह के धरातल पर नयी व्याख्या की।" —डॉ० शिवमंगल सिंह सुमन।

"डॉ० हजारी प्रसाद द्विवेदी मूलत: साहित्येतिहासकार और अनुसंधानक हैं, पर आलोचना भी लिखी है। उनकी आलोचना सैद्धान्तिक भी है और व्यावहारिक भी। उनके इतिहास-ग्रन्थ 'हिन्दी साहित्य' में भी आलोचना के तत्त्व हैं। आलोचना से उन्होंने शुक्ल जी के बाद की हिन्दी आलोचना को किसी हद तक प्रभावित भी किया है।" —नन्दकिशोर नवल

"कुल मिलाकर पंडितजी मनुष्य थे और मनुष्य में आस्था बढ़ाने वाली हर चीज को पहचानते थे, प्यार करते थे। इसलिए वे मनुष्य को झुठलाने वाले आध्यात्मिक छल की भर्त्सना करते हैं और निश्छल भाव से मनुष्य को अपनाने वाले भाव की सुन्दरता को रेखांकित करते हैं।"

—डॉ० रामदरश मिश्र

"द्विवेदीजी का व्यक्तित्व नैसर्गिक सौन्दर्य के प्रति सहज आकर्षित हो उठता था। वे अपने आचार्यत्व और वैदुष्य के लिए तो प्रख्यात थे ही, प्रकृति के प्रति उनकी अनुरक्ति भी दर्शनीय थी।...उनका इतिहास बोध बड़ा जाग्रत था। उनकी जितनी पैठ साहित्य और संस्कृति में थी, प्राय उतनी ही जातीय इतिहास में भी थी। किसी तथ्य को उपस्थित करते समय वे उसका ऐतिहासिक साक्ष्य अवश्य प्रस्तुत करते थे। —त्रिलोचन पाण्डेय

द्विवेदी जी का जन्म श्रावण शुक्ल एकादशी, संवत् 1964 (1907 ई०) को बलिया जिला (उत्तर प्रदेश) के 'दुबे का छपरा' नामक गांव में हुआ। इनकी शिक्षा का प्रारम्भ संस्कृत से हुआ। काशी हिन्दू विश्वविद्यालय से इन्होंने ज्योतिषाचार्य की परीक्षा उत्तीर्ण की। सन् 1930 से 1950 तक शान्ति निकेतन में अध्यापन किया। वहीं गुरुदेव रवीन्द्रनाथ के निकट संपर्क में रहे। इसी दौरान अभिनव भारती ग्रंथमाला और विश्वभारती पत्रिका का सम्पादन किया। हिन्दी भवन और विश्वभारती का संचालन भी किया। 1950 में काशी हिन्दू विश्व विद्यालय में हिन्दी के प्रोफेसर और फिर हिन्दी विभागाध्यक्ष हुए। विश्वभारती विश्वविद्यालय की कार्यकारिणी परिषद् के सदस्य, 1952-53 में काशी नागरी प्रचारिणी सभा के अध्यक्ष तथा साहित्य अकादमी नयी दिल्ली की साधारण सभा और प्रबन्ध समिति के सदस्य रहे। 1955 में राजभाषा आयोग के सदस्य मनोनीत हुए और 1959 में 'पद्मभूषण' से इन्हें सम्मानित किया गया। 1960-67 की अवधि में पंजाब विश्वविद्यालय, चण्डीगढ़ में हिन्दी के प्रोफेसर तथा विभागाध्यक्ष रहे। 1962 में बंग साहित्य अकादमी का टैगोर पुरस्कार मिला। 1967 के बाद पुनः काशी हिन्दू विश्वविद्यालय में आ गये। 1973 में साहित्य अकादमी पुरस्कार प्राप्त हुआ। 19 मई, 1979 को इनका देहावसान हुआ।

डॉ०हजारीप्रसाद द्विवेदी की प्रकाशित पुस्तकें : बाणभट्ट की आत्मकथा, चारु चन्द्रलेख, अनामदास का पोथा, पुनर्नवा (उपन्यास); हिन्दी साहित्य की भूमिका, आदिकाल, कबीर, सूर साहित्य, मृत्युंजय रवीन्द्र, कालिदास की लालित्य योजना, मेघदूत : एक पुरानी कहानी, सहज साधना (आलोचना); कल्पलता, अशोक के फूल, आलोक पर्व आदि (ललित निबन्ध)।

साक्षात्कार

धीवर जाल डाल का करिहै
जब मीन पिघल भै पानी

□ **आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी से मनोहरश्याम जोशी की बातचीत**

एक नक्शे के मुताबिक बसाये गये नगर चण्डीगढ़ में आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी, प्राध्यापकीय गरिमा की नाप-तौल के मुताबिक बनी हुई दोमंजिला 'जी टाइप' कोठी में अपनी पत्नी, दो छोटे पुत्रों और एक कॉकर स्पेनियल कुत्ते के साथ रहते हैं। कुत्ते की खासियत यह है कि 'हिन्दी समझ लेता है, नहीं तो आम तौर पर कुत्तों से अंग्रेज़ी बोलनी पड़ती है।' सारी कोठी खासी व्यक्तित्वहीन है। व्यक्तित्व अगर कहीं से झाँकता दीखता है तो जगह-जगह करीने से सजी किताबों से और यहाँ से वहाँ आते-जाते पानदानों से। जाने क्यों ऐसी प्रतीति होती हैं कि द्विवेदीजी इस कोठी में नहीं रहते।

धोती-कुरता पहने हुए, कन्धों पर उत्तरीय डाले हुए, हाथ में डण्डे और छड़ी के बीच की-सी कोई चीज़ लिये हुए, मुँह में गिलौरी दबाये हुए और बातचीत में अक्सर 'ततः किम्' का प्रयोग करते हुए हजारीप्रसाद द्विवेदी, चण्डीगढ़ के इस चौखटे में फिट होते हुए नज़र नहीं आते। ऐसा लगता है कि एक छोटा-मोटा ट्रांजिस्टरकृत शान्तिनिकेतन वह अपने साथ लिये घूमते हैं और अक्सर इसी सूक्ष्म शान्तिनिकेतन में अपनी दीर्घकाया 'सीदी मौला' के बताये हुए नुस्खे से समेट लेते हैं। उनसे बातचीत की हर राह शान्तिनिकेतन की ओर मुड़ी जाती है।

द्विवेदीजी ज्योतिषाचार्य, धर्मशास्त्री, साहित्यकार, सम्पादक, प्राध्यापक शोधवर्त्ता और चिर-जिज्ञासु सभी कुछ हैं, और यही सबकुछ उनकी बातचीत में बराबर झलकता रहता है। लेकिन इसका मतलब यह नहीं कि बातचीत में वह ज्यादातर गुरु-गम्भीर रहते हों। उनसे बात-चीत करते हुए अक्सर ऐसा आभास होता है कि मन-ही-मन वह अपने गम्भीर वचनों पर स्वयं हँस रहे हैं। जाहिरा तौर पर भी अक्सर ठहाका लगाते हैं। जो एक क्षण पहले तक आचार्यों का आचार्य नज़र आ रहा होता है वही सहसा पाठशाला का सबसे नटखट छात्र मालूम होने लगता है।...बातचीत में वह संस्कृत श्लोकों का इफरात से प्रयोग करते हैं क्योंकि 'क्या करें, तमाम अनुभव लिपिबद्ध पड़ा है!'...अगर श्लोकों से आपकी संस्कृत के मामले में सिफर आधुनिकता को किंचित कष्ट हो तो द्विवेदीजी हँसकर कहते हैं 'संस्कृत के तोता-रटन्त विद्यार्थी से बात करोगे तो बोर करेगा, श्लोक ठोकेगा। 'चारु चन्द्रलेख' में मैंने एक पात्र दिया है जो श्लोक ही बोलता है।'

इन श्लोकों, गुरुदेव के गानों और गोरखनाथ आदि सिद्ध जनों की वाणियों-वचनों के उदार प्रयोग के बावजूद द्विवेदीजी की बातचीत पण्डिताऊ नहीं होती है, बल्कि यह कहना होगा कि वह आश्चर्यजनक रूप से आधुनिक सिद्ध होती है, और अगर उसमें से उद्धरण काट दिये जायें—जैसा कि यहाँ संस्कृत, प्राकृत और बंगला में मेरी गति न होने के कारण अनिवार्य हो गया है—तो ऐसा प्रतीत होता है कि साठ वर्षीय आचार्य, साठोत्तरी पीढ़ी की ही बात कह रहे हैं—अलबत्ता कुछ भिन्न मुहावरे में।

साहित्यिक बातचीत में द्विवेदीजी को रस अब भी आता है लेकिन साहित्य-सृजन में अब "वैसी प्रवृत्ति नहीं है।" लिखने के सम्बन्ध में कोई नियम कभी रखा नहीं। कभी वर्षों तक कुछ नहीं लिख पाता हूँ और कभी मौज आती है तो एक ही रौ में लिखता चला जाता हूँ। कृति की गर्भावस्था मेरे यहाँ प्रायः लम्बी चलती है।···लिखने का कोई निश्चित समय नहीं है, यों आमतौर से काफी रात गये या सुबह तड़के लिखने-पढ़ने में ज़्यादा सुविधा मालूम होती है। नींद की कमी दिन में झपकी लेकर पूरी की जाती है। "जीवन में और किसी नियम के पालन का आग्रह रहा हो या न रहा हो, दिन में भात खाकर पसर जाने की स्तुत्य परम्परा का दृढ़ता से निर्वाह किया है।"

द्विवेदीजी दुनियादारी से दूर रहना चाहते हैं लेकिन दुनिया उन्हें घेरे रहती है।··· द्विवेदीजी को अपने छात्रों से बहुत प्रेम है और छात्रों के लिए 'आचार्यजी का घर अपना घर है।' इस हद तक कि उनमें से एक को मैं काफी समय तक आचार्यजी का मँझला बेटा समझेरहा। द्विवेदीजी इण्टरव्यू को 'व्यर्थ की बात' समझते हैं। 'आपको लिखने की प्रेरणा कैसे मिलती है,' 'आपकी रचना-प्रक्रिया क्या है,' आदि सवाल उन्हें बहुत ही बेतुके मालूम होते हैं और वह चाहते हैं कि जिस तरह रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने एक बार 'आपको कविता लिखने की प्रेरणा कैसे मिलती है' के जवाब में लिखवा दिया था कि 'सैनेटोजन नामक टानिक पीने से', उसी तरह मैं भी इन्टरव्यू वालों के लिए अन्तिम रूप से यह वक्तव्य दे दूँ कि मेरे साहित्य का जो भी रहस्य है सो बनारसी पानँ में है।

द्विवेदीजी को 'आज की यह साहित्य-चर्चा कुछ समझ में आती नहीं। इस रचना को वक्तव्य की लग्गी लगाकर खड़ा करना क्यों जरूरी हो गया है? अगर रचना में कह गये हों तो ठीक हैं, नहीं कह सके तो अगली बार कहना। ऐसी उतावली ही क्या है?' उन्हें 'रचना-प्रक्रिया की चर्चा पढ़कर ऐसा लगता है कि साहित्य कोई रोग है और साहित्यकार डाक्टर।' द्विवेदीजी उस नये पाण्डित्य का विरोध करना चाहते हैं जो साहित्य को 'जादू की जगह पहेली का दर्जा दे रहा है!' और जो समीक्षा के नाम पर अपने अधूरे ज्ञान और अटकलों की नुमाइश लगा रहा है।

द्विवेदीजी के सामने नोटबुक खोलकर प्रश्नोत्तर करना उनके साहित्यकार को विदा देना और उनके अध्यापक को आमन्त्रित करना है। मेरी उनसे जो भी दिलचस्प बातचीत हुई वह अनौपचारिक ढंग से हुई। जहाँ भी नोट-बुक लेकर बैठा वहीं नोट्स तैयार हो गये। चण्डीगढ़ जाते हुए रास्ते में मैंने जो 'गतिशील चिन्तन' किया था वह जहाँ एक ओर हम नौजवानों के लिए भारतीय अतीत के परिचायक के रूप में द्विवेदीजी के साहित्य की महत्ता का बोध करा सका, वहाँ समसामयिक संदर्भ में उसकी उपयोगिता के आगे प्रश्नचिह्न-सा लगा गया था। मैंने ज़्यादातर बातचीत इसी द्वन्द्व को ध्यान में रखकर की।

इस भेंट-वार्त्ता के लिए, जो विधिवत हो ही नहीं सकी, मैं कोई सवाल करता इससे

पहले ही द्विवेदीजी ने खुद एक सवाल कर डाला, "इण्टरव्यू मुझसे क्यों? और किस उपलक्ष्य में?"

"इसलिए कि आप वरिष्ठ लेखक-आलोचक हैं, अनन्यतम विद्वान् हैं। उपलक्ष्य : आपकी षष्टिपूर्ति।"

"यह हिन्दी की दरिद्रता का सूचक है। वह श्लोक है न कि जहाँ कोई वृक्ष नहीं होता वहाँ एरण्ड ही महिमावान मान लिया जाता है। मुझे प्रसन्नता तो तब होती जब नयी पीढ़ी प्राच्य और पाश्चात्य दोनों विद्याओं पर समान रूप से अधिकार रखने वाले एक-से-एक बढ़कर कई धुरन्धर विद्वान् इस देश और इस भाषा को देती। आज भी हम खूसटों की पूछ हो रही है तो यह चिन्ता का ही विषय है। और यह षष्टि-पूर्त्ति के उपलक्ष्य की एक ही रही। यह तो सोचा होता कि सठिया गया होगा।"

"हमने तो यही सोचा कि आप बहुत-कुछ बता सकते हैं।"

"अब क्या कहें। अगर बताने लायक कुछ रहा होगा तो अपने निबन्धों में निवेदित कर चुका होऊँगा। अगर बताने लायक कुछ और बचा होगा तो उसे लिखकर सुव्यवस्थित रूप से बताना चाहूँगा—अगर फुर्सत मिले, और तबीयत उधर जाये। और फिर मुझसे ही क्यों पूछें आप? यह पूछने और पूजने वाला मान-सम्मान मेरी समझ में नहीं आता। पूछ रहे हैं, पूज रहे हैं, मगर क्या कहें, करे अपने मन की जा रहे हैं। वहाँ दो-चार शाकाहारी बूढ़े, साहित्य संस्कृति के नाम पर हर कहीं अलंकार बनने के लिए आमन्त्रित कर लिए जा रहे हैं। मैं तो इस सबसे थक गया हूँ। अगर मुझमें कुछ है तो मुझे मेरा एकान्त दो कि मैं उस कुछ को उपयुक्त शब्द दे सकूँ।"

"इधर आप क्या लिख रहे हैं?"

"यह पूछिए कि इधर क्या-क्या नहीं लिख पा रहे हैं। एक तो 'हिन्दी-साहित्य का इतिहास' अंग्रेजी में लिखना था साहित्य अकादमी के लिए। सो अंग्रेजी पर बस नहीं चलता, न मेरा, न मेरी पहचान के अंग्रेजी के विद्वानों का। इसकी सहायता से लिखो तो उससे यह सुनने को मिले कि पण्डितजी भ्रष्ट अंग्रेजी लिखा रहे हैं, उसकी सहायता से लिखो तो इससे यह सुनने को मिले कि पण्डितजी अंग्रेज़ी बहुत गलत-सलत बता रहे हैं आपको। फिर मैंने सोचा गलत अंग्रेजी ही लिखनी है तो खुद ही लिखो। अब गाड़ी कुछ चल निकली है, रीति-काल तक लिख डाला है। एक उपन्यास लिखना शुरू किया था 'पुनर्नवा'। वह आदि में ही अन्त पर पहुँचने लगा। उसे छोड़ दिया है। लेकिन कालिदास की एक गप बनाने का मोह मन में बराबर बना हुआ है। अपने से कह रहा हूँ कि यहाँ-वहाँ से जोड़-जोड़कर एक गप बनाओ जो इतिहास-सम्मत भी हो, काव्य-सम्मत भी हो और जो सहृदय पाठक को रस भी दे सके!"

"आप अपने उपन्यासों को गप मानते हैं?"

"शुद्ध गप। गप ही गल्प है। सूखा रिसर्च लिखना पड़ता है, क्या करें, रोजगार यही है। लेकिन लिखते हुए कलम कसमसाती रहती है। अपने लेखन को भाव-प्रवण होने से बचाना दुष्कर होने लगता है, किन्तु किसी तरह बचाना ही पड़ता है, नहीं तो ये शोध-छात्र जिन्हें हम

भाव-प्रवण न होने की शिक्षा देते रहते हैं, यही कहें कि 'पर उपदेश कुशल बहुतेरे।' जब मैं शान्तिनिकेतन में था तो ऐसा आदेश हुआ कि प्राचीन भारत के कला-विनोद के विषय में कोई ऐसी पुस्तक लिखो जो दर्शन-चिन्तन से बोझिल न हो, सरस और सुग्राह्य हो। मैंने पुस्तक लिखी जो बाद में प्रकाशित भी हुई। लेकिन लिखते हुए रह-रहकर मन में यह कचोट उठती थी कि सूखा हो गया। आखिर शोध-प्रबन्ध सरस हो तो कैसे और कितना? इसलिए सोचा कि अब इसी विषय में एक गप बनाओ। यही गप 'बाणभट्ट की आत्मकथा' के नाम से प्रकाशित हुई। इसी प्रकार जब 'नाथ सम्प्रदाय' के बारे में शोधकार्य किया तो उसकी ऊब भगाने के लिए गप बनायी—'चारु चन्द्रलेख।' मेहनत से जो पाया-दिया वह शोध, और मौज में जो पाया-दिया वह साहित्य। पण्डिताऊ शब्दावली पसन्द करते हो तो कहूँ कि मेरे लिए ज्ञान को अधिक उपभोग्य बनाना ही साहित्य है।...उत्साह नहीं है लेखन में। हिन्दी साहित्य वृद्धों और अकालवृद्धों का साहित्य बनता जा रहा है।"

"उत्साह के अभाव में भी आप अकादमी के लिए हिन्दी साहित्य का इतिहास तो लिख ही पा रहे हैं।"

"हाँ, लिख ही रहा हूँ। क्योंकि बात टालने की भी एक सीमा होती है और वह सीमा पार हो चुकी है। ब्राह्मण भी आप जानते हैं चार तरह के होते हैं—ब्राह्मण ब्राह्मण, क्षत्रिय ब्राह्मण, वैश्य ब्राह्मण और शूद्र ब्राह्मण। 'ब्राह्मण ब्राह्मण' निर्लिप्त साधना करता है, सनातन महत्त्व का साहित्य रचता है। क्षत्रिय ब्राह्मण उत्साही और संघर्षप्रवण होता है, सामयिक महत्त्व की चीजें लिखता है, उच्चकोटि का पत्रकार बनता है। वैश्य ब्राह्मण नोट्स लिखता है, प्रचलित फैशन को धनोपार्जन का साधन बनता है, पब्लिसिटी' और पब्लिक रिलेशन्स में जाता है—इन ब्राह्मणों की संख्या में तेजी से वृद्धि हो रही है। और 'शूद्र ब्राह्मण' आदेश होने पर और प्रताड़ना मिलने पर ही लिखता है। मैं इसी शूद्र वर्ग में से हूँ।"

"आपने प्राचीन भारत के सन्दर्भ में उपन्यास लिखे हैं। क्या वर्त्तमान भारत के सन्दर्भ में उपन्यास लिखने का विचार कभी मन में आया ही नहीं?"

"विचार तो एक-से-एक आते हैं। मगर अपनी सीमा जानता हूँ। इकतारे से एक ही स्वर निकल सकता है। जन्म-भर पण्डित रहे, अब क्या खाक मॉडर्न बनेंगे।"

"इसका कारण यह तो नहीं कि समसामयिक स्थिति इतनी उलझी हुई है कि आपको उसे साहित्य की विषय-वस्तु बनाने का उत्साह नहीं होता?"

"ऐसी बात नहीं। उलझाना-सुलझाना तो हम पण्डितों का खानदानी पेशा है। बस यही कि समसामयिक स्थिति को उपन्यास में आँकने के लिए मैं अपने को रुचि, वृत्ति, शैली—हर दृष्टि से अक्षम मानता हूँ और उत्साह की बात जो आपने की तो उत्साह मुझे किसी भी विषय के लिए नहीं होता—प्राचीन विषय के लिए भी नहीं।"

"आपको इतिहास से इतना प्रेम क्यों है? क्या यह भी एक तरह का पलायन नहीं?"

"इतिहास, मनुष्य की तीसरी आंख है। एक गुजराती छात्र था वहां शांतिनिकेतन में, जरा सिरफिरा-सा। एक दिन पूछ बैठा कि अगर ईश्वर को बुद्धि है तो उसने मनुष्य की दोनों

आंखें सामने क्यों दीं ? एक पीछे क्यों नहीं दे दी ? इसका एक जवाब फौरन यह सूझा कि ईश्वर नहीं चाहता था कि मनुष्य के पीछे की ओर देखे। लेकिन बाद में सोचा कि ईश्वर ने मनुष्य को पीछे की ओर देख सकने वाला नेत्र दिया है और वह है उसका इतिहास-बोध। इतिहास-प्रेम की बात में नहीं जानता। मगर इतिहास-बोध पलायन समझना अधुनिकता नहीं, आधुनिकता-विरोध है। आधुनिकता की तीन शर्तें हैं—एक इतिहास-बोध, दूसरी इह लोक में ही कल्याण होने की आस्था और तीसरी व्यक्तिगत कल्याण की जगह सामूहिक कल्याण की एषणा। मैं आग्रहपूर्वक यह कहना चाहता हूं कि जो इतिहास को स्वीकार न करे वह आधुनिक नहीं और जो चैतन्य को न माने वह इतिहास नहीं।"

"चलिए, पलायन नहीं, शव-साधना तो यह अवश्य ही है।"

"निश्चय ही है ! कभी फुरसत से आइए तो आपको शव-साधना के मंत्र-तंत्र सभी विस्तार से समझा दूंगा ! इस समय इतना ही कि तांत्रिक ऐसे आदमी का शव चुनते हैं जो कुलीन हो, तुरंत मरा हो, प्रसन्नचित्त मरा हो, वीरगति को प्राप्त हुआ हो। इस शव को औंधे मुंह लिटाकर साधक मंत्र-तंत्र करता है। जब शव शिव हो जाता है तब उसका मुंह उलट जाता है। और वह पूछता है बोल क्या चाहता है ?...इतिहास कुलीन शव है उसे औंधे मुंह लिटाकर हम-जैसे कई साधना करते हैं। कई मुंह उलटने पर घबरा जाते हैं और शव के ही होकर रह जाते हैं। बैठे 'गुप्ता पीरियड' में तो गुप्तें में बैठे रह गए। नावें नहीं खुलती। कई घबराते तो नहीं लेकिन 'फियेट' लो, 'फ्रिज' लो, इस कमेटी की अध्यक्षता करके भत्ता कमाओ, उस डेलिगेशन के साथ विदेश भ्रमण का सुख लूटो जैसी छोटी-मोटी सिद्धियों के प्रलोभन से विचलित हो जाते हैं। बिरले ही हैं जो प्रलोभनों से विमुख होकर उस शक्ति से साक्षात कर पाते हैं जो वर्तमान को अधिक सुघर बनाने में और भविष्य के लिए सही मार्ग सुझाने में सहायक होती है। मैं अपनी गणना इतिहास शव के उन अधूरे साधकों में करता हूं जिन्हें प्रलोभनों ने पथभ्रष्ट कर दिया।"

"लेकिन इतिहास-बोध के अर्थ वर्त्तमान की अवज्ञा क्यों हो ?"

"इसी प्रकर मैं आपसे पूछ सकता हूं कि वर्त्तमान के अर्थ इतिहास-बोध की अवज्ञा क्यों हो। आखिर वर्तमान क्या है ? प्रत्यक्ष जो है सो कितना कम है, और कितनी जल्दी प्रस्तुत, अप्रस्तुत हुआ जाता है। या अतीत है, या भविष्य है, या स्मृतियां हैं, या स्वप्न है। वास्तविक वर्तमान शून्य नहीं है, क्या है ? आप मुझे दकियानूस कह लीजिए, पोंगा पंथी समझ लीजिए, मगर मैं वर्तमान की, समसामयिकता की कोई विशिष्ट महत्ता नहीं देखता।"

"समसामयिकता से कोई आपत्ति है ?"

"आपको साहित्य में समसामयिकता से तो नहीं है, समसामयिकता के दुराहग्रह से अवश्य है। यही क्षण, यही गोचर सत्य ही, सब कुछ है, ऐसा मानना उतनी ही प्रवंचना है जितनी कि अगोचर को ही, परलोक को ही सब कुछ मानकर हाथ पर हाथ धरे बैठे रहना। कदाचित मैं पुराने विचारों का हूं, इसलिए संश्लेषण की दृष्टि रही है। मुझे वैज्ञानिक दृष्टि और ईश्वर भक्ति में, सामयिक और सनातन में, यथार्थ और आदर्श में, कोई परस्पर विरोध नजर नहीं आता। मैं मिलाना चाहता हूं। मैं प्रगति के विरुद्ध नहीं हूं, किंतु प्रगति के अहंकार के विरुद्ध निश्चय ही हूं। यह अहंकार प्रगतिशील दृष्टि से भी हमें एकाधिक अर्थ में अनुदार और बर्बर

बना डालता है। कैसी प्रगतिशीलता है यह जो पहले वैज्ञानिक और औद्योगिक विकास के लिए, सामूहिक कल्याण के लिए, और धर्म के उन्मूलन के लिए संघर्ष करती है और फिर रोती रहती है कि 'सेक्युलर इण्डस्ट्रियल वैल्फेयर स्टेट' में इन्सान नहीं रहा, निरा मशीन का पुर्जा बनकर रह गया है और इससे आगे वह यह मानने तक को तैयार रहती है कि भौतिक प्रगति ही आध्यात्मिक दुर्गति लाती है। एक दुराग्रह से दूसरे दुराग्रह तक, एक अति से दूसरी अति तक यही है अहंकार की प्रगति। मैं समझता हूं कि औद्योगिक विकास और आध्यात्मिक उन्नति दोनों साथ-साथ हो सकते हैं, होने चाहिए। नहीं होंगे तो मानवता का कोई भविष्य नहीं है।"

"आप लोगों का वह समन्वयवाद, मानवधर्मवाद, विश्वबन्धुत्ववाद तो धराशायी हो चुका है। उसकी विफलता ने ही समसामयिक क्षोभ को जन्म दिया है।"

"मैं मानता हूं। किंतु धराशायी होने का अर्थ यह तो नहीं कि वह मर गया है। और अगर आप यह मानते हैं कि मानवधर्म मर गया है तो निश्चय ही समझिए कि देर-सबेर मानवता भी समाप्त हो जाएगी। यह महाविनाशकारी अस्त्रों का युग है। जिसे आप यूटोपियन बात समझते हैं, अगर उसी से सर्वसंहार रोकना संभव हुआ तो मानवता उसे अपना ही लेगी।"

"इस यूटोपियन में होगा क्या ?"

"विज्ञान, धर्म और परमेश्वर की संगति लगाई जाएगी। संगति लगाना आप कदाचित् पंडितों का फितूर समझते हों, किंतु इस परम संगति के अभाव में बीसवीं सदी की मानवता की कोई गति नहीं। आप लोग तो अपने को 'रियलिस्ट और रैशनलिष्ट' कहते हैं, फिर आप यह कैसे मानते हैं कि मानवता आत्मघात करेगी ? कदाचित आपको 'रीजन' में भी पूरी आस्था नहीं है। अगर होती तो आप चैतन्य से इन्कार नहीं कर पाते। वही योगकारक है। वही भूत को भविष्य से जोड़ता है। वही पद और पदार्थ को मिलाता है। अणुशक्ति सदा-सदा से थी, लेकिन हमारे मानस से उसका योग नहीं हुआ था। हमारे चैतन्य का विकास हुआ तो उससे प्रत्यय हुआ। आप रैशनलिस्ट हैं तो आपको चैतन्य के विकास में आस्था क्यों नहीं है ? और आप वहां जाते हुए क्यों डरते हैं जहां मेधा की हार होने लगती है, सतही 'रीजन' फेल हो जाता है ? आप क्यों भूल जाते हैं, कि जिसे हम भौतिक सत्य कहते हैं, वह भी मात्र मानव-सत्य है ? भाषा, गणित ये सब तथ्यों के नहीं, प्रतीकों के खेल हैं। आप भूल जाते हैं कि थिसिस कोई नहीं है, जो है सो हाइपोथीसिस है। आज जिसे थिसिस समझे हैं कल चैतन्य का विकास उसे हाइपोथीसिस ठहरा देगा। किसी न्यूटन के सत्य को किसी आइन्स्टाइन का सत्य मिथ्या सिद्ध कर देगा।"

"लेकिन न्यूटन के सत्य की भी स्थूल जगत में एक सत्ता है। जिसे आप मानव सत्य कहते हैं उसी से कई मानव-व्यापार चलते हैं। उसे झुठलायें क्यों ?"

"उसे झुठलाने की बात कौन कहता है ? उसकी उपयोगिता से कोई इनकार नहीं है, लेकिन सीमाओं का, उसकी परिवर्तनशीलता का स्वीकार भी साथ में क्यों न हो ? भिन्न-भिन्न संदर्भों के भिन्न-भिन्न देश-काल के सत्यों को गड्डमड्ड कर देने से अथवा उनमें से किसी एक को अंतिम सत्य मान लेने से गड़बड़ होती है। मामूली उदाहरण लीजिए, कहीं औसत व्यक्ति की धारणा से काम चल सकता है, लेकिन कहीं व्यक्ति-विशेष का अभिज्ञान आवश्यक हो जाता

है। आप दोनों जगह एक मानदण्ड का, एक सत्य का उपयोग करना चाहते हैं और नहीं कर पाते हैं तो खीझकर इस नतीजे पर पहुंचते हैं कि समूह और व्यक्ति में, बुनियादी बैर है। यह विचित्र रीजन है जो 'इर्रेशनल' बनाता है। यह विचित्र दृष्टि है जो अंधा बनाकर छोड़ती है। और यह यथार्थवाद का आग्रह भी मुझे अद्‌भुत ही प्रतीत होता है। आप आदर्शवाद के विरुद्ध हैं और यथार्थ को एक आदर्श माने बैठे हैं। धार्मिक नहीं हैं, लेकिन भावुकता का विरोध करते हुए भावुक हुए जा रहे हैं। कुल मिलाकर यह कि किशोरावस्था को प्राप्त हो रहे हैं। ऐसा नहीं कि नए लोगों की रचनाएं मुझे खराब-ही-खराब नज़र आती हैं। कुछ बढ़िया भी लगती हैं। कुछ पल्ले ही नहीं पड़तीं। कदाचित उन्हें समझने में मेरे संस्कार बाधक होते हों। या कौन कहे उनमें समझने को कुछ हो ही नहीं!"

"क्या आपको ऐसा भी मससूस होता है कि यह अज्ञान का साहित्य हैं?"

"ऐसा तो नहीं कहूंगा, पर इतना ज़रूर कहना चाहूंगा कि जो समसामयिक जीवन के जटिल यथार्थ की चर्चा करते हैं उन्हें पहले उस यथार्थ को समझने और उससे जूझने की बौद्धिक योग्यता अर्जित करनी चाहिए। मुझे ऐसा प्रमाण नहीं मिल रहा है कि हिंदी के 'आधुनिक' साहित्यकार की नृतत्व, समाजशास्त्र, जीव रसायन, मनोविश्लेषण और सामान्य विज्ञान जैसी आधुनिक विद्याओं में विशेष रुचि या गति है। मुझे आश्चर्य होता है कि जिस जटिलता के सामने सहज आस्था के बावजूद मेरा सिर चकराने लगता है, उसे कुछ आधुनिक कहे और समझे जाने वाले लोग छोटे-से नुस्खे से, किसी मामूली से फार्मूले से सिद्ध कर लेने का दम भरते हैं। साहित्यकार का काम गहराई तक जाना है फिर चाहे वह आस्था के सहारे उतरे, चाहे मेधा के। जो परम सत्य के उत्स से निकला हो, जो आवरण भंग करके चैतन्य का विकास करने में समर्थ हो, वही साहित्य है, बाकी सब कूड़ा है जो मुद्रित और बहुसंग्रहीत साहित्य के इस युग में भी कुछ ही वर्ष बाद किसी मामूली शोध-ग्रंथ की किसी पादटिप्पणी में ही जगह पा सकेगा। कालदेव को कहां इतनी फुरसत है जो यह सारा कूड़ा बटोरे और साथ लेता चले।"

"आपने अलग-अलग संदर्भों के सत्य की चर्चा की थी और अब आप परम सत्य की बात कर रहे हैं। सौ कैसे?

"अलग-अलग संदर्भों के सत्य मानव-सत्य हैं, खंड सत्य हैं। लेकिन उन सबके मूल में कोई मानवेतर सत्य समान रूप से विद्यमान है। संभव है कि उसे पाया न जा सकता हो, या संभव है कि उस तक पहुंचने का प्रयास ही उसकी प्राप्ति का पर्याय हो। लेकिन उसके बोध के अभाव में कोई महत्त्वपूर्ण उपलब्धि हो नहीं सकती।"

"एक पाश्चात्य विद्वान की मान्यता है कि कल्चर पहले 'आइडिएशनल' होता है और फिर बिगाड़ कर सैनसेट हो जाता है। आप इससे सहमत हैं?"

"मैं तो यही कह सकता हूं कि मैंने अपनी पीढ़ी को बहुत भावुक समझा था। उसकी प्राणशक्ति जो थी सो, क्या कहें, हृदय में अवस्थित थी। मैं प्राय: आशा करता था कि नई पीढ़ी में यह प्राणशक्ति ऊपर जाएगी, मस्तिष्क में स्थित होगी। लेकिन हुआ यह कि वह हृदय से मस्तिष्क की ओर जाती जाती उदर में गिर पड़ी। वह लतीफा था न कि पेट के लिए रायट करे वही पैंट्रियाट।"

"तो क्या भूखा मरे ?"

"नहीं, किंतु ऐसा विचार मन में क्यों लाए कि मैं तो पेट भर लूँ, भले ही दूसरे भूखों मरें ? यही भावना आ गई है। उदर-पूर्ति और यौनाचार, मानो सारा संसार इन दोनों बातों में ही सिमट आया है। यह न आत्मा की संस्कृति है न मस्तिष्क की, यह देह की संस्कृति है। यों काम और शृंगार से मुझे कोई आपत्ति नहीं। प्राचीन महर्षियों ने भी उनकी महिमा बखानी है। वैष्णवों ने तो 'प्रेमा' के गुण गाए हैं। 'प्रेमा' पुल्लिग रूप है, इसलिए उसे बड़ा माना है। हिंदी में 'प्रेम' चलता है नपुंसक रूप है ! और यही कदाचित् मेरी आपत्ति भी है। युवक लेखक राग-अनुराग जैसे विषय पर भी लिखते हुए युवकोचित नहीं हो पाते। या किशोर या अकाल-वृद्ध ! क्या हो गया है हमारी प्राणशक्ति को।"

"उदरपूर्ति का धर्म कोई नया तो नहीं। रुपया पहले भी बाप और भैया दोनों से बड़ा था।"

"था, मगर रुपये के रिश्ते के अतिरिक्त भी कुछ रिश्ते थे। अर्थसत्ता से ऊपर भी कोई सत्ता थी। अब तो यह हाल है कि कहीं आमन्त्रित होकर भी जाइये तो राह-व्यय लेने के लिए पहले फार्म में अपना वेतन बताइए। पैसा ही एकमात्र माप-दण्ड है। हर कोई समृद्धि के लिए बेतहाशा दौड़ रहा है और यह दौड़ हर किसी को सर्वहारा बनाये दे रही है। हमने सब बन्धन तोड़ डाले हैं, और अब हम आजाद हैं पैसे के पीछे दौड़ने के लिए, नहीं तो उपेक्षित रह जाने के लिए। यह कैसी आजादी है जिसमें कोई आराम नहीं और कुछ भी हराम नहीं। 'वी आर आल फ्री—टू डाई।' एषणाएँ तीन प्रकार की बतायी गयी हैं—पुत्रेषणा, वित्तेषणा और लोकेषणा। वित्तेषणा और लोकेषणा में अब कोई अन्तर नहीं रहा है और पुत्रेषणा जो है सो लूप के प्रताप से लोप हुई जाती है।"

"समृद्धि का सन्धान क्या कोई अनैतिक काम है ?"

"नहीं। और हो भी तो मैं किस मुँह से कहूँ ! लेकिन इतना तो कह ही सकता हूँ कि व्यक्तिगत समृद्धि की खोज कोई श्रेष्ठ नीति हो नहीं सकती। सामूहिक सम्पन्नता की खोज अवश्य श्रेष्ठ नीति का दर्जा पा सकती है। लेकिन तब भी यह याद रखना होगा कि समृद्धि ही सब-कुछ नहीं है। आज प्रायः अर्थ और स्व-अर्थ का ही बोलबाला है। 'मूल्य' शब्द को हम अब एक ही स्थूल अर्थ में ग्रहण करने लगे हैं।...स्वार्थ के कारण समर्थन और स्वार्थ के कारण विरोध करने वालों की संख्या बढ़ती जा रही है। आज की साहित्यिक बहस से मेरा कोई सीधा सम्पर्क नहीं रहा है, पर उसके बारे में भी जो कुछ पढ़ता या सुनता हूँ उससे यही आभास मिलता है कि वह भी इस रोग से मुक्त नहीं। ऐसा कभी नहीं देखा था। बड़ा झक्की होता था बनारस का पण्डित। वह अपनी झक के लिए बड़े से बड़े स्वार्थ को ठोकर लगा सकता था और लगा देता था।"

"आप शान्तिनिकेतन से जब बनारस लौटे तो आपने क्या परिवर्तन पाया ?"

"यों सारा-का-सारा ही हिन्दी-क्षेत्र या कहें मध्य-देश बहुत रक्षणशील है, परन्तु काशी इस मामले में दो हाथ आगे (या पीछे कहें ?) ही रही है। फिर भी लौटने पर मैंने देखा कि

आधुनिकता के भौतिक पक्ष का इस नगर को भी कुछ स्पर्श मिल ही गया है।···आधुनिकता का भौतिक पक्ष वास्तव में आ गया था। लेकिन आधुनिकता की आत्मा वहाँ अब भी दुर्लभ थी। बात-बात में मुझे शान्तिनिकेतन और रवीन्द्रनाथ को लेकर ताना दिया जाता था, कुछ इस ढंग से मानो उदार होना या सार्वभौम दृष्टि रखना कोई बहुत बड़ा अपराध हो। काशी विश्वविद्यालय में मैंने कबीर पढ़ाना शुरू किया तो एक मित्र उपकुलपति से यह शिकायत कर आये कि जिस विभाग में तुलसीदास से पढ़ाई शुरू होती थी उसमें कबीर से शुरू होने लगी है।"

"आधुनिकता के न आ पाने का कारण आप क्या देखते हैं ?"

"कारण यही कि न कोई भीतरी क्रान्ति हुई, न बाहरी। जिसे आपका यथार्थवाद, निरा सुधारवाद कहकर उपेक्षा का पात्र समझता है उससे शायद विचारों की क्रान्ति की आशा हो सकती थी। हम अपनी परम्परा का नया संस्कार करते, रूढ़ियों का दुर्ग भेद कर अपनी परम्परा की आत्मा का उद्धार कर लाते तो आज भारत वास्तव में नया और भारत दोनों बन जाता। लेकिन पाश्चात्य प्रतिमानों का मोह और पराधीनता से मिला हुआ हीनभाव हमें खा गया। सुधार और समन्वय को दकियानूसी बातें करार देकर हमने मानो स्वेच्छा से भारतीय लोक-मानस से अपना निर्वासन कर लिया। लोकमानस हमने रूढ़िवादियों के लिए छोड़ दिया। तो हम सेकुलेरिज्म चिल्लाते रहे और देश का साम्प्रदायिक आधार पर विभाजन हो गया। हम धर्मनिरपेक्षता का ध्वज फहरा रहे हैं और ऐन उस ध्वज के तले हिन्दू राष्ट्रवाद जोर पकड़ता जा रहा है। हम यथार्थवादी हैं और हमारा यथार्थ कल्पित है। भाषा, धर्म, संस्कृति, आचार-व्यवहार के हर मामले में हमने ऐसी उधार की उदारता, ऐसी बेपर की प्रगति चला दी है, जो लोकमानस का मैदान संकीर्णतम नस्लवाद के लिए बिना लड़े छोड़े जा रही है।"

"क्या आप यह मानते हैं कि आर्थिक परिवर्त्तन के साथ-साथ सामाजिक सुधार स्वयं ही हो जायेगा ?"

"एक सीमा तक यह बात सही हो सकती है, किन्तु प्रश्न यह है कि आर्थिक परिवर्त्तन भी वैसा कहाँ हो रहा है ? बाहरी क्रान्ति अभी कहाँ हुई है। सब्जबागों का ही समाजवाद आया है, सिद्धियों का नहीं। इच्छाओं की ही क्रान्ति हुई है, उपलब्धियों की नहीं। और इस अधूरी क्रान्ति से हमारी स्फूर्त्ति आहत हुई है। हमारी जिजीविषा विक्षुब्ध हुई है।...हम न देश में अमीरी ला सके हैं, न गरीबी बराबर-बराबर बाँट सके हैं। हम बड़े-बड़े बाँध बनाने के लिए बिक गए, लेकिन नलकूप हमसे लगवाते नहीं बने। समाजवादी ढंग की समाज व्यवस्था की हम बातें करते रहते हैं। यह एक और पाखण्ड है। और यह पाखण्ड एक और खतरे के सामने देश को खुला छोड़ रहा है। यह खतरा है वामपन्थी कम्युनिस्टों की रक्तरंजित क्रान्ति का।"

"तो क्या आपके हिसाब से भारत के राजनीतिक मंच पर अतिवादी शक्तियाँ जोर पकड़ेंगी ?"

"पकड़ चुकी हैं। आज मुझे दो ही सुसंगठित और मरने-मारने की हिम्मत रखने वाले दल नज़र आते हैं—राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ और वामपन्थी कम्युनिस्ट। जहाँ सामंजस्य को मूर्खता मान लिया गया हो, वहाँ अति की ही राजनीति चलेगी।"

"आपने हाल के एक लेख में कहा था कि जनता जाग रही है और आप एक निराशाजनक चित्र प्रस्तुत कर रहे हैं, सो क्यों ?"

"अति की राजनीति से जनता का वास्तविक जागरण होगा, ऐसा तो मैं नहीं कहना चाहता हूँ। लेकिन जागरण होगा जरूर। अगर सामंजस्य की राजनीति होती तो यह जागरण सुविधा और शान्ति से हो पाता, अति की राजनीति के वातावरण में भयंकर मारकाट और उथल-पुथल के बाद होगा, मगर होगा निश्चय ही। भारत एक बड़ी शक्ति बनेगा, विश्व के मंच पर अपनी भौगोलिक, ऐतिहासिक नियति चरितार्थ करेगा।"

"आपके इस विश्वास का आधार क्या है ?"

"यही कि मुझे अपने देश में, मानवता में और परमेश्वर में आस्था है।"

"परमेश्वर में यह आस्था क्या आत्मछलना नहीं ? धर्म को लेनिन ने जन-साधारण की अफीम कहा है।"

"अफीम वह है जो कमजोर बनाती है। जो धार्मिक आस्था शक्ति देती हो, उसे अफीम मान लेना स्वयं एक आत्म-छलना है। और अगर अफीम है, जन-जन की अफीम है, तो जनता के राजनीतिक और बौद्धिक नेता होने का जो दावा करते हैं, वे पहले इस अफीम को देखें-समझें। अगर इस अफीम की शब्दावली में ही, वे नये अर्थ और नया दर्शन भरते तो कोटि-कोटि जन का उद्धार सुगमता से हो गया होता। हमारे प्राचीन प्रतीकों में आज भी कितनी शक्ति है और जनसाधारण को उनमें कितनी आस्था है इसका कोई अनुमान हमारे इण्टलेक्चुअलों को नहीं होता।"

"आपको परमेश्वर में क्यों आस्था है ?"

"मुझे आस्था है। इसमें क्यों और क्या का सवाल नहीं उठता। कोई शक्ति है, कोई तत्त्व है जो हमारे सतही अनुमानों से परे है। हर व्यक्ति की गहराई में कोई रहस्य स्पन्दित है। मैं मानता हूँ कि ऐसी बहुत-सी बातें जीवन में आती हैं, जिनके लिए कुछ-न-कुछ शब्द बनाना पड़ता है, जिनका कारण अदृश्य में खोजना पड़ता है। उसे भाग्य, कर्म, नियति, ग्रह-दशा, परमेश्वर, जो अब तक विज्ञान की पकड़ में नहीं आया है, लेकिन शीघ्र ही आ जाएगा ऐसा रहस्य, या कोई नाम दे दीजिए। मगर उसकी अपनी एक सत्ता है अवश्य, आप चाहें तो उसे मेरे आधुनिक मित्रों की तरह 'एब्सर्डिटी ऑफ लाइफ' कहकर पुकार लें। भगवान की लीला कह लीजिए या 'एब्सर्डिटी ऑफ लाइफ', कोई अन्तर नहीं पड़ता। अगर एब्सर्ड में भी आपकी पूरी आस्था हो, तो भी आपका साहित्य और आपका जीवन उस परम शक्ति का प्राणवान स्पर्श पा लेगा। कठिनाई यह है कि हमारे साहित्यिकों और अन्य बुद्धिजीवियों को किसी चीज में भी आस्था नहीं है, यहाँ तक कि अनास्था में भी आस्था नहीं है। जहाँ आस्था नहीं होती, वहाँ आतंक होता है। जहाँ श्रद्धा नहीं होती, वहाँ क्षोभ होता है। इसी आतंक का, इसी क्षोभ का और आर्थिक कारणों से उत्पन्न भग्नाशा का साहित्य आज के नौजवान लिख रहे हैं। ऐसा कहते हुए मेरा उनकी निन्दा करने का आशय कदापि नहीं हैं। मुझे उनसे पूरी सहानुभूति है। हमें तो सहज आस्था का संस्कार मिला था और उस आस्था के सहारे—क्या कहें—एक प्रकार की गर्दभ वृत्ति अपने भीतर जगा सके हैं। झेल जाने की और भूल जाने की अपार क्षमता।

रामभरोसे रह लेने का गुण या अवगुण। गुरुदेव के शब्दों में 'सत्य का महसूल' चुका सकने का साहस। जीवन में कई बार ऐसे अवसर आये हैं जब मेरे आदर्श यथार्थ से बुरी तरह टकराये हैं। मुझे अपार मानसिक कष्ट भोगना पड़ा है, लेकिन हर बार यही आस्था मुझे 'सिनिक' होने से बचा गयी है। मैंने मन-ही-मन एक तत्त्ववाद स्वीकार कर लिया है कि भूलना और सह पाना भगवान की विशेष कृपा से आता है। जो इस कृपा का पात्र बन सका है वही होम करते हाथ जलने पर विचलित नहीं होता।

"कभी अपने बीते जीवन के बारे में सोचते हैं आप ? जीवन के इन साठ वर्षों का सिंहावलोकन करते हुए कौन-सी बातें याद आती हैं ? कौन-से दृश्य उपस्थित होते हैं ? जो भी सहज याद आता जाये, बतायें !"

"हमारा पुश्तैनी मकान। घोर अभाव का वातावरण। बाबा कह रहे हैं कि इस लड़के को ज्योतिष पढ़वाओ, तो शायद रूठी लक्ष्मी प्रसन्न हों। पितामह के पितामह की चर्चा हो रही है, ज्योतिषाचार्य थे और जिनके समय में घर में बहुत समृद्धि थी। लेकिन शुरू में मुझे अंग्रेजी स्कूल में भेजा गया। वहाँ आर्थिक कारणों से पढ़ना सम्भव नहीं हुआ। और इन्हीं आर्थिक कारणों को मैंने शहीद कहलाने के सुख के लिए शायद राजनीतिक रूप दे डाला।

"मैं संस्कृत और ज्योतिष का विद्यार्थी हूँ। शास्त्रार्थ में बड़ा रस आता है। जो भी बारात जाती मुझे उसमें सम्मानपूर्वक ले जाया जाता है और मैं उत्साहपूर्वक जाता हूँ। क्यों ? शास्त्रार्थ करने के लिए। उन दिनों यही रिवाज था। कई बार तो दोनों ओर के शास्त्रियों में मारपीट तक हो जाती थी। समय कितनी जल्दी बीत गया है, कितना ज्यादा बदल गया है। हमारे विद्यालय में एक छात्र ने कुर्ता पहनकर खा लिया, उसे भ्रष्ट घोषित कर दिया गया। उसका पक्ष मैंने लिया और शास्त्रार्थ किया। यह सिद्ध करने की कोशिश की कि शास्त्रों में कुर्ता पहनकर खाने का निषेध नहीं है। संस्कृत के विद्यार्थियों में मैं 'प्रोग्रेसिव' हूँ। अन्धों में काना राजा !

"शान्तिनिकेतन। गुरुदेव आचार-विचार वाले मामलों में कोई प्रत्यक्ष हस्तक्षेप नहीं करते हैं। मैं अपना खाना अलग बनाता हूँ। छुआछूत मानता हूँ। लेकिन कुछ ऐसी भी घटनाएँ होती हैं जो मुझे नयी दिशा में सोचने को बाध्य कर देती हैं। कट्टर ब्राह्मण की तरह, पाठशाला में पढ़े ब्राह्मण की तरह, मेरे मन में शिवाजी के प्रति आदर भाव है। बहस में एक मुसलमान मित्र से कह देता हूँ कि शिवाजी न होते तो हिन्दू धर्म आज जीवित न होता। वह कहता है—पण्डितजी, क्या बुरा हो गया होता अगर वर्त्तमान हिन्दू धर्म न होता, वर्त्तमान मुस्लिम धर्म न होता, मिलकर कोई एक नयी चीज बन गयी होती। उस समय बहुत क्रोध आता है, मगर बाद में यह प्रश्न बराबर आलोड़ित करता रहता है।

"भारत स्वाधीन हो गया है। 'पोलिटिकल सफरर्स' को 'पोलिटिकल' इनाम बाँटे जा रहे हैं। मेरे एक मित्र राजनीतिक बन्दी की हैसियत से जेल काटते हुए मर गये थे, उनके परिवार की स्थिति शोचनीय है। परिवार को सरकारी सहायता दिलाने के लिए प्रमाण जुटाना है। लिखित प्रमाण नहीं है, तो वही लोग सहायता मंजूर करने के लिए तैयार नहीं हो रहे हैं जिनके साथ मेरे मित्र ने आजादी की लड़ाई लड़ी थी, कदाचित् उनसे कुछ ज्यादा ही साहस से अधिक ही कुर्बानी देकर। एक उचित माँग के लिए भी वैसी ही दौड़-धूप, वैसी ही सिफारिश-गुजारिश

आवश्यक हो रही है जैसी कि अनुचित रियायत के लिए।

आंतककारी रह चुके एक मित्र स्वाधीन भारत में सत्तालोलुप वर्ग से कोई समझौता करने के लिए तैयार नहीं है। सरकारी सहायता लेने के लिए प्रस्तुत नहीं होना चाहते हैं। टूट जाते हैं, मगर झुकते नहीं। आत्म-सम्मान के बल पर जीना कितना दूभर हो गया है। एक दिन वे थे कि इनमें उत्साह कूट-कूटकर भरा हुआ था, डायनामाइट लादे हुए, कहाँ कहाँ पुल उड़ाने के लिए भूखे-प्यासे घूमते रहे थे और एक दिन यह है कि रन्ध्र रन्ध्र से कड़वाहट फूटी पड़ रही है।

"क्या इस विडम्बना ने आपको कुछ सोचने पर मजबूर नहीं किया ? इस सबके बाद भी आप सत्ता प्रतिष्ठान से संबंध कैसे बनाए रख सके ? गाँधीवादी सामंजस्य की खुलेआम अवहेलना हुई और आप लोग कुछ कर नहीं सके ?"

हम उससे अलग थे ऐसा तो दावा मैंने नहीं किया है। यह तो एक रेला है, एक धक्का-मुक्की है जिसमें बिना कुछ पूछे जिधर धक्का लगे उधर बढ़ जाना है। जो इसमें कोई शंका उठाने के लिए रुका, वह वहीं रौंद डाला गया। इसे चाहे कायरता कह लीजिए, चाहे और कुछ कि हम इस रेले से अलग नहीं हो सके। और न आप लोग ही हो सके हैं।

"क्षमा कीजिए मुझे इस उत्तर से तोष नहीं मिल रहा है। अगर आप रेले के संग-संग भटकने को विवश थे तो हम जो आपको पथप्रदर्शक मानते थे, आपके पीछे-पीछे भटकने को विवश थे। और जो अब हमारे बाद आ रहे हैं वे यह मानने को विवश हैं कि हमारे मूल्य ही पाखंडपूर्ण हैं। उनकी नीतिहीनता का उत्साहः हमारी नीति का असमर्थता में ढूंढ़ना गलत न होगा। इसलिए मैं आपसे फिर पूछना चाहूंगा कि सिनिसिज्म बढ़ाने वाला यह समझौता, किस लिए और कैसे संभव हुआ ?"

"नौकरियों के लिए, सुविधाओं के लिए। दरिद्रता के देश में कितना जबरदस्त आकर्षण है इस सबका। और जो अन्न के लिए आश्रित हैं वह फिर हिंदी वाले वेग में नहीं, अंग्रेजीवाले 'वेग' में विश्वास करने लगता है। कुछ गोलमोल कहो कि यह लोक भी हाथ से न जाए और उस लोक में भी थोड़ी-बहुत अपने लिए गुंजाइश बनी रहे। यही हाल मेरा है, यही हाल हम सबका है। संसद में, विधान सभाओं में, पत्र-पत्रिकाओं में, हर कहीं यही है। 'वेगनेस प्रतिष्ठित है और पूज्य है। हम सब अपनी-अपनी चमड़ी और दमड़ी बचाने के लिए बकालत कर रहे हैं। अभी जब आपको कुछ पुरानी बातें सुना रहा था तब एक बात और याद आई थी। शांति-निकेतन में एक दिन गुरुदेव पूछ बैठे कि भीष्म इतना ज्ञानी, इतना दृढ़ प्रतिज्ञ, इतना निष्ठावान था, लेकिन तो भी उसे अवतार नहीं माना गया, कृष्ण को माना गया सो क्यों ? विचार किया तो यही समझ में आया कि भीष्म रूढ़िवादी थे। शर-शैया पर लेटे हुए कदाचित वह यही सोचते रहे हों कि मैंने यह कैसी प्रतिज्ञा की जिससे किसी का कोई हित नहीं हुआ : कृष्ण ने लोकहित को सर्वोपरि माना, लीक पीटना कभी भी जरूरी नहीं समझा। वह आधुनिक चेतना वाले थे, उनकी तुलना त्रेता के राम से करके यह बात स्पष्ट हो जाती है। इसीलिए वह एक नए युग द्वापर का प्रवर्त्तन कर सके ! और एक द्रोणाचार्य थे जो धर्म-अधर्म भुलाकर नमक-हलाली की लीक पकड़े रहे कि बाल-बच्चों का पेट भर सके। कुछ वही दृष्टि हम जैसे लोगों की रही है। एक जो आंतरिक साहस होता है, वह हममें है नहीं। ज्ञान, विवेक, पांडित्य सब कुछ आ

पाता है लेकिन वह अन्दरूनी ताकत नहीं आ पाती। न हममें और न हमारे देश के वातावरण में। 'रिवोल्ट' हमने जाना ही नहीं है, बहुत हुआ तो 'प्रोस्टेस्ट' तक पहुंच गए है।"

"और फिर भी आप विश्वास कर पाते हैं कि जनशक्ति जाग्रत होगी, देश महान बनेगा।"

"जनशक्ति जाग्रत होगी नहीं, हो चुकी है। उसे सही दिशा की, सही भाषा की तलाश है। यह दिशा और यह भाषा मिलने पर वह इस देश का कायाकल्प कर देगी। उसके विद्रोह के सामने हमारी बकालत धरी रह जाएगी। राजनीति को सही दिशा की, और साहित्य को सही भाषा की, इस खोज में योगदान करना चाहिए। कुछ समझदार राजनीतिज्ञ इस खोज में प्रवृत्त भी हो रहे हैं। लेकिन साहित्यकार तो, क्या कहें, रचना-प्रक्रिया की डाक्टरेट से फुर्सत नहीं पा रहा है। उस पर तो चार पंक्ति की कविता के विषय में चार पृष्ठ का वक्तव्य देने की धुन सवार है। चार ठो कहानियां लिखकर ऐसा शास्त्रार्थ मचाए हुए हैं मानों चार वेद ही तो लिख डाले हैं। आप शायद बुरा मानें, कदाचित बहुत कड़ुआ लगे आपको यह सब, किंतु हो यही रहा है। अगर हमारा परंपरा-प्रेम किताबी था तो आपका आधुनिकता मोह कुछ अधिक ही किताबी है। जब खरी भाषा मिलेगी, जब खरी वाणी जिह्वा पर आरूढ़ होगी, तब खोटी परंपरा और खोटी आधुनिकता दोनों कचरे के कनस्तर में फेंक दिए जायेंगे और वह दिन, बहुत दूर नहीं है।"

हजारी प्रसादजी की यह आस्था मुझ जैसे अनास्थावानों की निगाहों में शायद किसी-न-किसी स्तर पर संदिग्ध ही ठहरेगी। किसी हद तक हम उसे अति सरलीकृत मानने को भी मजबूर होंगे। लेकिन उनकी ईमानदारी पर संदेह करना मेरे—जैसे उन लोगों के लिए भी संभव नहीं जिन्हें हर किसी को फ्राड सिद्ध करने में विशेष आनन्द आता है। अपने जीवन में जो भी उन्होंने पाया है, साधिकार पाया है, बल्कि अपनी योग्यता के अनुपात में बहुत कम ही पाया है। जो कुछ कहा है अपनी समझ के मुताबिक सही और खरा कहा है। कहने के पीछे कोई 'पालिटिक्स' नहीं रही है। इसके बावजूद अगर मेरी और आपकी 'आधुनिकता' को उनके जीवन और दर्शन से कोई कोफ्त होती है तो शायद इसीलिए कि उनका धीर भाव, हमारी संकालु, चिर अस्थिर संशयात्मा वृत्ति को सालता है। हमें हैरानी होती है कि ये लोग इतने शांत-चित्त कैसे रह पाए हैं, अपनी-अपनी विचारभूमि और भावभूमि में किस तरह डटे रह सके हैं? हमारी तरह इनके पांव क्यों नहीं उखड़ गए हैं? और बदतर यों कि हमारे पास यह कहने को भी नहीं कि हमने इनके और इनकी परंपरा के विरुद्ध कोई सार्थक विद्रोह किया है। मुझसे और अपने 'नए जमाने के' पुत्रों से, द्विवेदी जी जब-जब बातचीत कर रहे थे, मुझे रह-रह कर यह आभास हो रहा था कि हमारी दुनिया में आने की वह सफल कोशिश कर पाते हैं, लेकिन हम उनकी दुनिया में कदम रखते हुए घबराते हैं। हम अपना ही मानसिक बस्ता-बिस्तर संभाल नहीं पाते और वह अपना सामान सहेजकर हमारा मालमत्ता भी करीने से रख जाते हैं।

इसलिए वह गुरुजन हैं। इसलिए मैं, जो हजारीप्रसाद द्विवेदी से अपनी इस पहली मुलाकात के लिए जाते समय कोई विशेष आदर भाव अपने साथ लेकर नहीं गया था, जिसने उनसे पहले साक्षात में निहायत ही अप्रतिबद्ध किस्म का नितांत ही औपचारिक नमस्कार किया था, विदा लेते समय कुछ पुराने घरेलू संस्कारों का स्मरण करके, विधिवत पायलागन कर आया।

[श्री मनोहरश्याम जोशी की पुस्तक 'बातों बातों में' (राजकमल प्रकाशन, दिल्ली) से किंचित संक्षेपण के साथ साभार उदधृत]

आचार्य द्विवेदी की जीवन दृष्टि

□ डा० इन्द्रनाथ मदान

आचार्य द्विवेदी की मूल जीवन-दृष्टि के आधार पर इनके निबन्ध साहित्य का विवेचन अधिक संगत जान पड़ता है। उसके वस्तुपक्ष का मूल सूत्र मंगल-सूत्र है। इसमें जड़-शक्ति का खंडन या चेतना-शक्ति का मंडन निहित है। इनके मनुष्यता के निरूपण में मनुष्य पशु भी है—इस मत की उपेक्षा है; और पशु ही नहीं है—इसकी अपेक्षा है। आचार्य द्विवेदी ने भारतीय इतिहास का दोहन किया है, भारतीय साहित्य का मंथन किया है, रवीन्द्र-साहित्य को आत्मसात किया है, कालिदास-साहित्य में रस-पान किया है' आदिकालीन तथा मध्यकालीन हिन्दी काव्य का अनुशीलन किया है और डा० द्विवेदी ने पाश्चात्य साहित्य, ज्ञान-विज्ञान तथा भाषा-विज्ञान का परिशीलन किया हैं जिसके फलस्वरूप इनका दृष्टिकोण आचार्य शुक्ल की अपेक्षा अधिक व्यापक है। आचार्य शुक्ल की जीवन-दृष्टि के मूल में भी समाज-मंगल की भावना तथा समाज-कल्याण की धारणा है जो उनके काव्य-सिद्धांतों को प्रभावित करती है; परंतु आचार्य द्विवेदी की समाज-मंगल संबंधी जीवन-दृष्टि पर रोमांटिक जीवन-बोध का अधिक गहरा प्रभाव पड़ा है। आचार्य शुक्ल के जातिमूलक संस्कार अधिक दृढ़ हैं; परंतु आचार्य द्विवेदी के ब्राह्मण-संस्कार शिथिल पड़ गए हैं। इसका एक कारण रवीन्द्र साहित्य का प्रभाव तथा शांतिनिकेतन में इनका आवास हो सकता है। विश्व-भारती के वातावरण में विश्व-संस्कृति का निरूपण होता रहा है और काशी हिन्दू संस्कृति का गढ़ रहा है। इसलिए आचार्य शुक्ल तथा आचार्य द्विवेदी के दृष्टि कोणों में सांस्कृतिक अंतर का पाया जाना स्वाभाविक है। संस्कृति तथा सभ्यता के स्वरूप पर आचार्य द्विवेदी ने गहन चिंतन तथा निरंतर मनन किया है। भारतीय संस्कृति में जो बल बाह्य शुद्धता तथा आंतरिक शुचिता पर दिया जाता है उसे निरूपित करने के लिए जीवविज्ञान, भौतिकविज्ञान, मनोविज्ञान आदि का पूरा उपयोग किया गया है जिससे **वृद्धा भारतीय संस्कृति आभूषणों से अलंकृत होकर युवती होने का आभास दे सके।** आचार्य द्विवेदी को इस वृद्धा से इतना मोह है, इसमें इतनी आसक्ति है कि वह शृंगार के लिए देश-विदेश से आभरणों को जुटाने का प्रयास करते हैं। वे संस्कृति और उसके पुत्र साहित्य को एक-दूसरे से अलगाने के पक्ष में नहीं हैं। जीवन में मानव-जीवन; मानव-जीवन में मानव-संस्कृति और मानव-संस्कृति में भारतीय संस्कृति का विशिष्ट स्थान है। इन सबके मूल में जड़-तत्त्व तथा प्राण-तत्त्व के संघर्ष को आँका गया है। यह संघर्ष सोद्देश्य है जिसमें प्राण-तत्त्व की जय-गाथा एवं जय-यात्रा लक्षित होती है।

इसीलिए वह प्राण-तत्त्व के ऊपर उठने की बात बार-बार कहने से संकोच नहीं करते। जड़-तत्त्व कृशकाय होने की कामना जीवन-विकास के मूल में है। आचार्य द्विवेदी का ज्योतिष-ज्ञान इन्हें अनागत में झाँकने की दिव्य शक्ति तथा प्रेरणा भी देता है; इनका पांडित्य इन्हें विगत को खोद निकालने की क्षमता से युक्त करता है और इन दोनों का योग आगत के मूल्यांकन में बाधक बनकर आता है। वह अतीत तथा भविष्य में इतना रम जाते हैं कि वर्तमान की कभी-कभी उपेक्षा करने के लिए बाधित हो जाते हैं। अपने पांडित्य के भार से जब क्लान्त हो जाते हैं तब विश्राम करने के लिए हास्य एवं विनोद का आश्रय लेते हैं। इनके व्यंग्य का स्वरूप भी प्रायः सामाजिक है, इसका उद्देश्य समाज-मंगल की भावना से प्रेरित है; और अपवाद रूप में यह व्यक्ति हित से भी अनुप्राणित है। इसलिए 'मेरी जन्मभूमि' में वह बालू से तेल निकालने की बात सोचते हैं और इसे अपना व्यक्तिगत गुण भी समझते हैं।

आचार्य द्विवेदी की साहित्यिक मान्यताएँ, इनकी समीक्षा की मानवतावादी भूमि, समीक्षा की इनकी मूल्यगत देन, इनका आलोचक रूप, इनके आधारभूत समीक्षा-सिद्धांती इतिहासकार के रूप में इनका योगदान, इनका मानवतावादी दृष्टिकोण, भक्ति-काव्य संबंध, इनका मूल्यांकन, भारतीय-संस्कृति विषयक इनका निरूपण, इनके व्यंग्य का स्वरूप एवं उद्देश्य इनके शिव-बोध एवं सौंदर्य-बोध में समन्वय की स्थिति आदि इनके आचार्य और डाक्टर में सामंजस्य का परिणाम हैं जिसे आदर्शवादी धरातल पर स्थापित किया गया है। डा० कमलेश ने आचार्य द्विवेदी के निबंध साहित्य का विवेचन करते हुए इसकी विविधता की ओर संकेत तो अवश्य किया है, परंतु इसे प्रेरित करने वाली जो मूल जीवन-दृष्टि है उसकी प्रायः उपेक्षा की है। इनके साहित्यिक, सांस्कृतिक, आलोचनात्मक तथा स्फुट निबंधों के मूल में शिव की जो साधना है, मनुष्यता का जो निरूपण है, समाज-मंगल की जो भावना है उसका मूल्यांकन अपेक्षित है।...इसमें संदेह नहीं कि आचार्य द्विवेदी पर रवीन्द्रनाथ के चिंतन की गहरी छाप है। उन्होंने हिंदी साहित्य के रवीन्द्रीकरण का प्रयास अवश्य किया है, गुरुदेव का कवि इनके निबंधों में झलकता है, परंतु एक का व्यक्तित्व कभी भी दूसरे के व्यक्तित्व के साँचे में नहीं ढल सकता। हरेक व्यक्तित्व की निजी उपलब्धियाँ तथा सीमाएँ होती हैं। आचार्य द्विवेदी की यह स्वीकृति इनके विनीत स्वभाव का परिणाम ही कही जा सकती है। इन्होंने कालिदास, कबीर, तुलसी, सूरदास की आत्मा का भी साक्षात्कार किया हुआ है और ज्वर-ताप के बढ़ने की स्थिति में वह इनकी पंक्तियों का पाठ भी करते हैं; परंतु इसका आशय यह नहीं है कि यह इनकी भाषा में ही सोचते और बोलते हैं। किसी महान साहित्यकार के प्रभाव को स्वीकारना एक बात है और उसकी अनुकृति करना दूसरी बात है। आचार्य द्विवेदी नाटककार हो सकते हैं, अभिनेता नहीं; सृजन कर सकते हैं, नकल नहीं। इसलिए जब यह रवीन्द्रनाथ या कालिदास की भाषा में बोलने की बात कहते हैं, तो ये अपने विनीत स्वभाव का ही परिचय देते हैं। इसी कारण, शायद डा० कमलेश ने इन्हें साहित्यिक संत की संज्ञा से अभिहित किया है। यह कहना कठिन है आप साहित्यिक अधिक हैं या संत। मुझे लगता है कि इनका व्यक्तित्व इनके कृतित्व से भी बड़ा है और यही इनके जीवन की आशा और निराशा है, उपलब्धि और सीमा है। ऐसा मानव विरल होता है और बार-बार जन्म नहीं लेता।

['आचार्य और डाक्टर द्विवेदी' शीर्षक निबन्ध का अंश]

तुम अच्छे कवि जान पड़ते हो !

□ डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी

सभा का कार्य आरंभ हुआ। प्रधान अधिकरणिक ने विशेष-विशेष व्यवहारों (मुकदमों) में किये हुए अपने निर्णय को महाराजाधिराज से स्वीकार करवाया। बहुत कम अवसरों पर मतभेद हुआ। दो-तीन-बार धर्मशास्त्र के अधिकारी पंडितों की राय मांगी गयी। एक-आध व्यवहार ऐसे भी थे, जिनके संबंध में कुमार कृष्णवर्द्धन से दीर्घकाल तक आलोचना चली। बातचीत बहुत धीरे-धीरे हो रही थी। मैं कुछ भी नहीं समझ सका। परंतु इतना समझने में देर नहीं लगी कि कुमार कृष्ण कुछ परेशान-से थे और प्रधान अधिकरणिक के वलीकुंचित मुखमंडल पर कठोरता के भाव दिखायी दे रहे थे। महाराजाधिराज शुरू से अंत तक एक ही मुद्रा में थे—न हँसी, न क्रोध, न परेशानी ! व्यवहार का प्रकरण समाप्त होने के बाद थोड़ी देर तक कुमार के साथ महाराज की मंत्रणा और भी चलती रही। पर प्रधान अधिकरणिक के साथ जब धर्मशास्त्री विद्वान् उठकर चले गए, तो यह मंत्रणा भी रुक गयी। अब गायकों, विद्वानों, विदूषकों, भाटों और स्तुति-गायकों की बारी आयी। कवियों ने भी अपने नये श्लोक सुनाये। महाराज ने सबको संतुष्ट किया। किसी को मीठी-मीठी बातें करके, किसी को ताम्बूल-वीटक देकर, किसी को पुरस्कार देकर और किसी को अपना कोई आभूषण देकर उन्होंने सबका आशीर्वाद पाया। इस समय सभा में खुशामद और स्तोकवाक्यों का बोलबाला था : कुमार कृष्णवर्द्धन के इशारे पर मैं भी आशीर्वाद देने के लिए उठा। बड़ी कठिनाई से मैंने एक आर्या सुनायी। मुझे वह वातावरण बड़ा क्लान्तिजनक मालूम हो रहा था। मैंने उस आर्या में चाटुकारिता की हद कर दी थी। आर्या समाप्त करके मैं जब महाराजाधिराज को आशीर्वाद देने के लिए करतल उठा रहा था, उसी समय मेरा हृदय धक्-से धड़क गया। निपुणिका को मैंने वचन दिया था कि किसी जीवित व्यक्ति की स्तुति में कविता नहीं लिखूंगा। यह क्या हो गया ! तो क्या मैं इस लोक में सिर्फ सहस्र दिन-मात्र जीवित रहूँगा ? मैं कुछ इस प्रकार हतप्रतिभ हुआ कि क्षणभर के लिए भूल ही गया कि उत्तरापथ के प्रबल प्रतापान्वित सम्राट् श्रीहर्षदेव के सामने खड़ा हूँ। परंतु कुमार ने मुझे बचाया। उन्होंने मेरी आर्या के एक अंश की अनुवृत्ति करते हुए परिहासपूर्वक कहा, "व्रत की याद से विह्वल होना उचित नहीं, भट्ट !" सारी सभा हँस पड़ी। महाराजाधिराज देर तक खिलखिलाकर हँसते रहे। सभासदों में जिन्होंने कुछ भी नहीं समझा था, वे भी महाराज का हँसना देख लोट-लोटकर हँसने लगे। मैं कुछ झेंपकर लौट आया। इस बार महाराजाधिराज ने बड़े प्रेमपूर्वक मेरी ओर देखकर कहा, "तुम अच्छे कवि जान पड़ते हो।" मैंने सिर झुकाकर

प्रसाद स्वीकार किया। कुछ देर तक विटों और विदूषकों की भोंड़ी रसिकता का मनहूस प्रदर्शन चलता रहा। मेरा दम घुटने लगा।

इसी समय सभा-भंग का शंख बजा। महाराजाधिराज उठे और कंकणों, वलयों, नूपुरों केयूरों और अंगदों के कलस्वन के साथ वंदियों का जय-निनाद फिर से मुखरित हो उठा। क्रमशः विलासिनियों के कुंकुम-गौर वदनों की कृत्रिम स्मित रेखा विलुप्त हो गयी, सभासदों के चाटूक्ति-विलसित हास्य शांत हो गए, सभासदों के केतक-धूपित उत्तरीय सिमटने लगे और विदूषकों की छिछली रसिकता क्लान्ति की गंभीरता में डूब गयी। मैं जैसे रुद्धद्वार गृहगर्भ से बाहर आया। राजसभा की एकघृष्ट हवा में मैं घुट गया था। तेजी से मैं बाहर आ रहा था कि एक व्यक्ति ने पीछे से पुकारा—"सुनो भद्र!" पीछे मुड़कर मैंने उसकी प्रसन्न मुखश्री को देखा। वह धावक था। उसने राजसभा में बहुत ही सुन्दर कविता सुनायी थी। उसके पाठ करने की भंगी अपनी ही थी। महाराज का वह प्रीतिपात्र जान पड़ता था। मैंने उसे देखकर प्रसन्नता प्रकट की। धावक ने हँस कर कहा, "जब राजसभा में आ ही गए, तो हम लोगों को अस्पृश्य मानने से कैसे काम चलेगा!" मैंने विनीत भाव से कहा, "आर्य, मुझे अकारण लज्जा दे रहे हैं।" परंतु धावक मस्त आदमी था। उसने थोड़ी देर में ही जमके दोस्ती कर ली। देर तक वह इधर-उधर की बातें करता रहा। विदा होते समय वह कह गया, तुम महाराज की अंतरंग सभा के उपयुक्त पात्र हो, तुम्हें निमंत्रण जरूर मिलेगा।" मैंने मतलब स्पष्ट करने का अनुरोध किया, तो कान्यकुब्जजनोचित प्रौढ़ नर्म सी हँसी हँसकर धावक ने मेरा कंधा हिलाया—"जल्दी ही समझ जाओगे, गुरु!"—और बिना मेरी अनुमति के ही एक ओर चल पड़ा। मैं कुछ हैरान-सा होकर आवास स्थान की ओर बढ़ा।
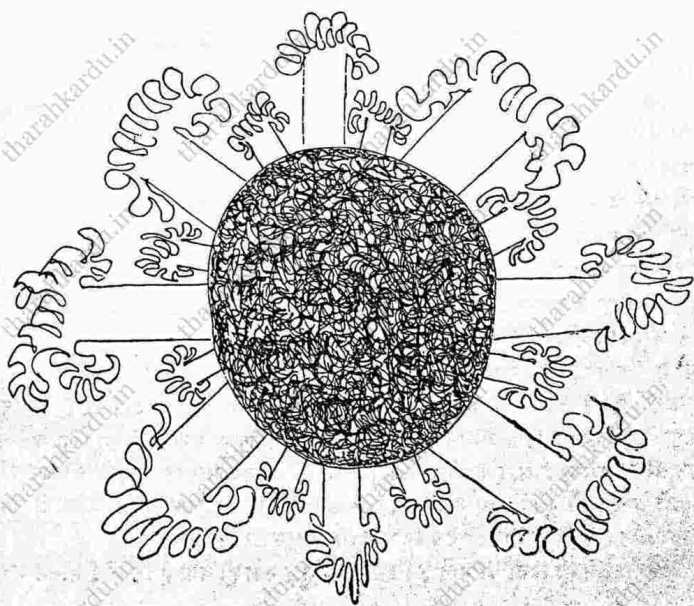
बदलता मौसम

☐ बल्लभ डोभाल

बादल बरस रहे हैं···

थम-थमकर बरखा की बूंदों का छूटना···। जैसे किसान खेत में भर-भर मुट्ठी दाने फेंकता है। बीजों के ऊपर बीज···और बीजों की बौछार···।

पूरा बदन भीग उठा है। ऊपर से लेकर नीचे तक···पानी-पानी हो गया हूं। शायद कोई परिवर्तन भीगने से आ जाए। लेकिन इसके अलावा कि अंदर ही अंदर पानी सिर से पांव तक रिस रहा है, कोई परिवर्तन नहीं। मन ही मन चिंता हो जाती है। जमकर मौसम का असर क्यों नहीं हो रहा है, जबकि अन्य घटनाओं का सहज प्रभाव मन-मस्तिष्क पर सनातन बना है। ऐसा क्या है कि मौसम के प्रभाव से ही वंचित रहना पड़े। बादलों से छूटकर धरती की गोद में उतर आने वाली नन्हीं बूंदें···। ये बूंदें कब मुझे आकर्षित करेंगी।

बादलों की गरज और बूंदों की रिमझिम बिलकुल वैसी ही है, इनमें कोई परिवर्तन नहीं। इन चीज़ों में क्या परिवर्तन हो सकता है। ठंडी हवाओं का उसी प्रकार चारों ओर से आकर घेरा डाल देना और रेशम-सी छुवन के साथ बदन को सहलाते हुए दिल के पास पहुँच जाना···। लेकिन दिल शायद पत्थर बन गया है, इस पर बरसात का कोई असर नहीं। जैसे कि कुछ हो ही नहीं रहा।

···क्या मर गया है तू? पूछता हूं दिल से।···मौसम इतना सुहाना बन आया है और तू बिल्कुल बे-खबर है लेकिन इतनी जल्दी तू मर कैसे सकता है। कोई चीज़ मरते-मरते मरती है। मरने में वर्षों लग जाते हैं। आज जबकि शरीर के हर अंग का राष्ट्रीयकरण मैंने तेरे पक्ष में कर दिया है, सब तरह की सुविधाएं तेरे लिए जुटा रखी हैं। तेरे कारण मैं कितनी ही परेशानियां झेल चुका हूं। केवल तेरी खुशी के लिए···। सोचा था, तुझ में ताज़गी बनी रहे। लेकिन तू बिल्कुल पत्थर ही बन गया। अभी पिछले दिनों तक तू बिल्कुल मरा नहीं था। तू खुश-खुश पहाड़ पर चला गया था। वहां के मौसम का तूने भरपूर आनंद लिया। बादलों को घने-पर्वतों और जंगलों के बीच से गुज़रते हुए देखा। पहाड़ी ढलानों पर उग आने वाली मखमली घास-वनस्पतियां और हरे-भरे जंगलों को देखकर तू खुशी से झूम उठा था।···

अभी पिछले ही दिनों की बात है। इसी बीच तुझे क्या हो गया है कि कोई मौसम अच्छा

नहीं लगता। तेरे लिए हर चीज बेमायने हो गई है। पानी में तैरते तिनके की तरह…।

पूछता हूं, लेकिन कोई उत्तर नहीं मिलता। दूर आसमान में फिर बादल टकराए हैं। एक हल्की-सी कड़क कानों में गूंज उठी है। इस कड़क के साथ मैं अपने में लौट आता हूं। तभी मालूम हुआ कि मैं पहाड़ पर न होकर एक सरकारी बिल्डिग के नीचे साइकिल स्टैंड पर खड़ा हूं। बरसात के कारण कई लोग स्टैंड के अंदर घुस आए हैं और एक हाथ तेज़ी से बढ़ता हुआ मेरी तरफ आता है।

हाथ मिलाने की रस्म अब पुरानी पड़ गई। खाली मुस्कुराहटों से सलाम-दुआ और दूसरे काम हो जाते हैं। लेकिन उसका पुराना हाथ…। यह हाथ हर वक्त खाली मिलता है। ताकि मौके पर अविलम्ब दूसरे की तरफ बढ़ाया जा सके।

उसका गरम हाथ मेरे ठंडे हाथ में आते ही महसूस हुआ जैसे आग-पानी का मिलन होने लगा है। आज उसके चेहरे पर भी पहले जैसी कोई बात नहीं थी। वह खुश था, देखकर मैं भी प्रसन्न होने का अभिनय करता हूं। मन में खलिश है कि यह बरसात, बरसात-सी क्यों नहीं लग रही है। बूंदों की रिमझिम कानों को क्यों स्वीकार नहीं।

सोच ही रहा था कि वह बोल उठा, "आज बरसात का मज़ा ले रहे हो मित्र !"

सुनकर मुस्कुरा देता हूं। "बरसात का मज़ा तो तुम्हीं ज़्यादा ले रहे हो, पहले से ज़्यादा खुश नज़र आते हो।" मैंने कहा।

वह आदमी…जिसे किसी मौसम से लगाव नहीं रहा। लगाव कैसे रहता ? शहर में रहने वालों के लिए कोई मौसम नहीं होता। उनके मौसम दूसरी तरह के हैं। वह विदेश जा रहा है, इसलिए आज पहली बार उसे मौसम की पहचान हुई थी। तब हिंदी से आगे बढ़कर उसने अंग्रेज़ी में जानकारी दी, "आई एम लीविंग फार कीनिया…।

मैं कुछ कहने की स्थिति में नहीं। मन किसी ठिकाने नहीं लगता। एक तरफ मौसम के समझ में न आने वाली बात है और दूसरी तरफ उसका कीनिया जाना…। यह आदमी कीनिया जा रहा है, इसलिए खुश है।

"…हमेशा के लिए जा रहे हो या…।" मैंने पूछा।

"नहीं भाई ! पहले छः महीने वहां रहूंगा, बाद में सोचूंगा कि क्या करना है।"

मन ही मन कहता हूं, वहां जाकर भी तू क्या कर सकेगा। जी में आया, इस बात को स्पष्ट ही कर दूं। कह दूं कि तुम जैसे लोग चंद्रमा पर पहुंचकर भी कामयाबी हासिल नहीं कर सकते। पर मेरा विवेक ऐसा करने से चूक गया। उसकी खुशी को बरकरार रखते हुए मैंने कहा, "यह तो खुशी की बात बताई तुमने…।"

वह मेरे नज़दीक सरक आया। बोला, "हां बंधु ! मैंने सोचा, "कुछ दिन के लिए बाहर चला जाऊं। इस देश में हम जैसे लोगों की कद्र कहां है।…" आगे क्या कहा उसने…मेरी समझ में नहीं आया। मेरा अपना ही मन ठिकाने नहीं है, लगता है मर ही गया है। जब जीवन देने वाली सावनी-घटाओं का असर न हो, तब यही समझना चाहिए।

पानी से बचने के लिए शेड के नीचे भीड़ जमा हो गई है। कुछ युवतियां…जिन्होंने कीनिया का नाम शायद पहली बार सुना है, उसकी तरफ देखने लगी हैं। दूसरों का ध्यान भी हमारी तरफ आकर्षित हुआ है। वह मेरा दोस्त अपनी बगल में खड़े सरदारजी के साथ कीनिया के भौगोलिक स्तर पर उड़ने लगा है। सरदारजी की बातों से लगता है कि वे विदेश-भ्रमण कर

अभी-अभी लौटे हैं। कल्चरल डेलीगेशन में कई देश घूम आए हैं। अनेक देशों की सभ्यता और संस्कृति से हटकर अब उनकी बातचीत दूसरी तरह की चीज़ों पर होने लगी है। रेडियो, ट्रांज़िस्टर, टेप-रिकार्डर, कारपेट, साड़ियां, जूते-चप्पल आदि···शब्द उनके मुंह से फूटकर बाहर आ रहे हैं। संदर्भ सस्ते-महंगे का है। चलो, अच्छा हुआ, बातों में वह दूसरे लोगों के साथ उलझ गया है। वरना मुझे उसके साथ दिमाग खपाना पड़ता। मैं चुपचाप एक किनारे हो बादलों की लड़-झगड़ देखने लगा हूं।

थोड़ी देर बाद लगा कि अनेक देशों के नामों की लिस्ट बनाकर मेरी कनपटी पर टांग दी है। कीनिया, युगाण्डा, लीबिया, लेबनान, हालैंड, पोलैंड···और रूस, अमरीका, जर्मन, जापान···लगभग सभी देश शेड के नीचे आ गए हैं। जैसे ईंटों का एक बड़ा ढेर कानों के इर्द-गिर्द बना दिया है। साथ ही रेडियो, ट्रांजिस्टर, टेप, कारपेट, साड़ियां, छाते, चप्पल···शब्दों की झड़ी लग गई है। सोचता हूं, इन लोगों को क्या हो गया है। यह सब इसी आदमी के कारण हुआ है। यह भाई अगर कीनिया न जाता तो शेड के नीचे आने वालों की दुर्गत न बनती।

लेकिन यह आदमी कीनिया क्यों जा रहा है। सोच ही रहा था कि अपनी खूबसूरत डायरी मेरे आगे खोलते हुए वह कहता है, "यह रहा मेरा पासपोर्ट···" टिकट भी तैयार है। बैंक में थोड़ा काम था, वह भी आज पूरा कर लिया। बस, अब तो···।"

उसकी आंखों में तीखी मुस्कान उभर आई है। लगता है, बरसात की सारी ठंडक इसके सीने में उतर गई है। आज पहली बार उसे इतना प्रसन्न हुआ देखा है। अपने मोटे शीशे वाली ऐनक के अंदर आंखें घुमाते हुए वह कहता है, "आज तो मौसम भी गज़ब ढा रहा है दोस्त ! तुम तो पहाड़ी आदमी हो। शायद मौसम से तुम्हें कोई दिलचस्पी नहीं।"

"क्यों नहीं है मुझे दिलचस्पी ?"

"इसलिए कि हर आदमी इन बातों को नहीं समझता। फिर तुम्हारे पहाड़ में इतनी गरीबी है कि···। गरीबी जहां है वहां कोई मौसम नहीं होता।" वह बोला।

वह ठीक कहता है। अब मौसम में वह पहले वाली बातें कहां मिलती हैं जबकि वह बिना कारण मन को छू जाता था। अब तो हर चीज के अच्छे-बुरे लगने में कारण ही प्रमुख है। हंसी-खुशी के पीछे कारण अज्ञात है। हंसना-रोना भी अपने लिए नहीं रह गया। अपनी इच्छा पर नहीं, अपने सुख-दुख के अनुकूल कुछ नहीं रहा। हवा-पानी और मौसम पर भी अब परिस्थितियों की मार है। लगता है, इन मैदानी इलाकों में गर्मी और सर्दी के दो ही मौसम रह गए हैं।

वर्षा, बादल, बिजली, पानी आदि···चीज़ें सब जगह मिल जाती हैं। मिलने वाली चीज़ों के बारे में क्या सोचना···। इसलिए लोग दूर की बात सोचते हैं। अपने देश से बाहर की बातें··· ।

शेड के नीचे काफी लोग जमा हैं। थम-थमकर बूंदों का गिरना यथावत् है। पहाड़ों में बरसात का अपना रंग निराला है। वहां हर मौसम के आने-जाने का साफ पता चलता है। हर दो महीने बाद आदमी के दिल-दिमाग को बदलता मौसम आता-जाता है। लेकिन तब भी मन को संतोष कहां था। क्या धरा है इस पहाड़ में···। किसी तरह की सुविधा नहीं, कोई सुख नहीं। मैं यहां से चला जाऊंगा। वह दिन याद आता है, जब मेरे इस निश्चय पर मां ने सिर धुन लिया था। बोली "तुम जा तो रहे हो। पर सोचो, घर की देखभाल कौन करेगा। तुम्हारे

पिता पहले से ही परदेशी बने हुए हैं, अब तुम भी चले गये तो क्या होगा ?"

भाभी ने रोका था। "जुवान-जमान हो देवर राजा···! इत्ता बड़ा घर है, जगह-ज़मीन है। तुम्हारे लिए कमी किस चीज़ की है। बात सिर्फ इतनी है कि तुम मेहनत नहीं करना चाहते, पर तुमसे कौन कहता है कि कुछ करो। बस, देखभाल करते रहो, करने वाले कर रहे हैं।"

कितना आग्रह, कैसा अपनत्व था···। किंतु वे सब चीज़ें मुझे रोक न सकीं। मन का प्रेत तब जाग उठा था। अपना देश है, अपनी धरती है। आदमी कहीं जाकर रह सकता है। लेकिन भूत-प्रेतों के लिए क्या अपना···क्या पराया। खानाबदोश बुद्धिजीवियों की तरह मैं भी गांव से निकल दुनिया के बाज़ार में आ खड़ा हुआ। और अब स्थिति यह है कि हवा-पानी, सर्दी-गर्मी या हंसी-खुशी को परिस्थितिवश उतनी ही मात्रा में लिया जा रहा है जितनी कि रोगी को उसकी माफिक दवा चाहिए। ज़्यादा हंसने और उछल-कूद के परिणाम उल्टे हो सकते हैं। हर चीज़ को दूसरों की नजर से छिपा कर रखना है, यह शहर है, जिसकी कोई बुनियाद नहीं है। यहां अपनी चीज़ अपनी ही इच्छा के परे होती जा रही है। घर छोड़ने का यही हश्र हुआ है।

बूंदें यकायक थम गई हैं। लोग धीरे-धीरे खिसकने लगे हैं। यकायक वह भी उछल पड़ता है। सड़क पर बस के पीछे भागता कहता है, "अच्छा यार ! फिर मिलूंगा।" वह बस के भीतर दाखिल हो गया है। मेरे पास उसके शब्द रह जाते हैं, फिर मिलूंगा।···

फिर कब ? मन ही मन बुदबुदाता हूं। कल तू कीनिया जा रहा है। कीनिया से लौट आने के बाद···? नहीं।···तब तेरा मिलना कठिन है, क्योंकि विदेश घूम आने की एक विशेषता तेरे नाम के साथ जुड़ जाएगी, जैसे कि मेरे नाम से जुड़ी है। जब मैं गांव लौटता हूं तो लोग कितनी इज्जत देते हैं। इसी बात पर कि मैं महानगर का बाशिन्दा हूं। महानगर की महानतम उपलब्धियों से जुड़ा हुआ हूं। ऐसी महानता कि जिसकी कल्पना लोगों को अपनी हीनता का ही बोध करा सकती है। वे समझते हैं कि मैं हर प्रकार से सभ्य-सुसंस्कृत और संपन्न बन गया हूं। पर भीतर ही भीतर मेरा मन मुझे धिक्कार रहा है। मैं गांव से पलायन किए हूं। मैंने जमकर मुसीबतों का सामना किया होता, थोड़ी-सी असुविधा और तंगदस्ती को बर्दाश्त किया होता तो गांव खाली न होते। लेकिन नहीं, मैं उस तंग दुनिया में अपने सुख को ही तलाश करता रहा। अपनी सुविधाओं के लिए मैंने मौसम की हत्या कर दी है। हर नदी, तालाब और पेड़-पौधे को सुखा दिया है। घाट-पनघट की धड़कनों को दिल से निकाल दिया है। मैंने बहुत-कुछ न भुलाने वाली चीज़ों को भुला दिया है।

सोचता हूं, यह आदमी कीनिया जा रहा है। शायद मेरी तरह अपने घर की आपद्-विपत्तियां इसे बर्दाश्त नहीं हैं। यहां सुविधाओं का जीवन इसे नहीं मिल रहा है। भाभी की बातें याद आती हैं। कहती थी, "देवरजी ! अपने सुख-दुख से जूझने में काहे की शरम है। अपनी जगह-ज़मीन पर तन को नहीं खपाओगे तो दुख ही पाओगे।"

वह ठीक कहती थी, पर महानगरों में आने के बाद मालूस पड़ा कि मामला काफी आगे बढ़ चुका है। मैं गांव छोड़कर अपने देश की सीमा के अंदर तो हूं, लेकिन यहां अपना देश छोड़-कर बाहर भागने की कोशिश में सभी बैठे हैं। ज़रा भर छूट मिल जाए तो···।

लोगों को कहते सुनता हूं यार ! इस देश में रहने से तो बाहर जाना अच्छा है। कोई जर्मनी को ठीक बताता है, कोई रूस, अमरीका, पैरिस, लंदन को···। सभी मुल्क अच्छे हैं, केवल इस देश को छोड़कर···।

यह भी कल कीनिया चला जाएगा। लेकिन इसका कीनिया जाना···। बात जमती नहीं। धीरे···धीरे शेड से बाहर निकल आता हूं। आसमान लगभग साफ हो चला है, पर मेरे मन में अभी धुंध बाकी है। अपने देसी आदमी के विदेश जाने का ख्याल आता है तो मन उदास हो जाता है। कीनिया जाकर यह क्या कर लेगा?

सोचता हूं, मैंने गलती कर दी है। उसे यों ही चले जाने दिया। मुझे उससे साफ कहना चाहिए था—तू कीनिया मत जा। ऐसी कौन-सी चीज है जो तुझे यहां नहीं मिल रही है और जिसके लिए तू कीनिया जा रहा है। आखिर इस देश में कमी कहां है? यहां भी अनेक तरह की सुविधाएं हैं। अनेक तरह के सुख-दुख हैं। जीवन है तो समस्याएं हैं? और इनसे सुलटने के लिए समझदार लोगों की ज़रूरत इस देश को भी है। इसलिए तू कीनिया मत जा। कीनिया जाकर तू कीनिया ही बन जाएगा। तेरे मन का सब कुछ जाता रहेगा और फिर आग-पानी में फर्क करना मुश्किल हो जाएगा। अपने को खोकर तू वहां से लाएगा क्या? कोई विदेशी ट्रांजिस्टर, टेप-रिकार्डर, शेविंग मशीन, कुछ साड़ियां, जूते चप्पल और···भारी मात्रा में उस देश की तरक्की के आंकड़े···।

कुछ कदर इन्हीं चीज़ों को पाने के लिए मैं अपना घर छोड़कर यहां किराए के मकान में बैठा हूं। जीवन को संपन्न बनाने वाले यंत्रों पर यंत्रित हो गया हूं। इन्हीं चीज़ों के लिए मैंने मौसम की हत्या कर दी है। मौसम क्या...मैं हर चीज की हत्या कर सकता हूं। जो अपनी ज़मीन से उखड़ गया, वह अपने को कहीं भी रख सकता है।

आज मेरे पास कितना-कुछ सही, भाभी को विश्वास दिलाना मुश्किल है। उसकी नज़र में मैं कायर हूं। दुख-तकलीफ और मेहनत से पलायन कर जाने वाला···।

× × ×

बादल पूरी तरह छंट गए हैं। सावनी हवा का दौर शुरू हो गया। नुकीली पत्तियों पर अटकी हुई अंतिम बूंदें हवा के झोंकों से टप्···टप् नीचे गिर रही हैं। मेरे मन पर इस मौसम का असर नहीं है, पर मेरे घर के ऊपर से यह मौसम गुज़रा तो होगा। वर्षों से लावारिस पड़े घर के ऊपर ऐसे कई मौसम गुज़रे होंगे। उसकी हड्डी-पसली और आत्मा की गहराइयों तक इस मौसम की पकड़ है। उसकी छत, छत की पटरियां, तड़कती दीवारें और धंसती बुनियाद··· मुझे मौसम का पूरा एहसास करा रही हैं। यह सच है, मौसम आदमी की हत्या कर सकता है पर अपने अस्तित्व से वंचित नहीं हो सकता।

[444, रामपुरा, दिल्ली-110035,]

सुरंगें

अरुण भारती

अलाव अब बुझने लग पड़ा था। कोहरे की परतें, पुन्नू की 'खेसी' को पार कर पसलियों को काटने लग पड़ी थीं। 'भाले' पर जमी मुट्ठी, अंगुलियां जैसे लक्कड़ की हो गई थीं। उसका दिल चाह रहा था, वह उठे, आसपास की गिरी टहनियों को इकट्ठा कर अलाव को फिर सुलगा ले, लेकिन जिस्म का हर हिस्सा जैसे जमकर रह गया था।

उसे लगा, कुछ देर अगर वह यों ही बैठा रहा, तो बस, उसके बदन में झुरझुरी सी भर गई। अपने बाप का मुर्दा चेहरा उसकी आंखों के आगे कौंध-सा गया।

वह छोटा ही था तब, करीब पन्द्रह बरस का। बाप उसे और मिठ्ठू को लेकर इसी गांव में आ टिका था। बड़ी मुश्किल से, मिन्नतें करवा कर ही गांव वालों ने चरांद में उसे डेरा डालने की इजाजत दी थी। वह भी इस शर्त पर कि खेतों में लगे रात के जानवरों से, खास कर 'साही' से वह उन्हें छुटकारा दिलाएगा। हालांकि कड़ाके की सर्दी पड़ रही थी। रात में उठ कर खेतों की राखी करना तो दूर, बाहर दो पल टिकना भी मुश्किल था। और कोई दूसरा रास्ता भी नहीं था, गांव वालों की बात मानने के सिवा। पुन्नू का बाप मान गया।

चरांद में तम्बू डालकर पुन्नू का बाप शाम ढले ही चल दिया था खेतों की तरफ। दो कुत्ते साथ में थे। गांव वालों से मांग चुनकर लाए सत्तू और लस्सी के एक लोटे से तीन जनों ने आधा अधूरा पेट भरा था। आसपास से 'बाड़' और टहनियां चुनकर टैंट के बाहर, बड़ी देर तक तापते रहे थे पुन्नू और मिठ्ठू अलाव। और हवा के थपेड़े जब सहन न हुए तो कपड़े की झीनी दीवारों के पीछे आकर लेट गए कथरी पर, एक दूसरे के गले में बांहें डाले, आंखें खोले, हर आहट पर चौंकते, ठिठुरते। रात बीतती गई, आस चुकती गई। बाप नहीं आया, सो नहीं आया।

सुबह लौट आए थे दोनों कुत्ते। बाप साथ नहीं था। कुछ देर दोनों बाट जोहते रहे। नहीं आया। वे तलाश में निकल गए।

बहुत देर तक भटकने के बाद बाप उन्हें मिल गया था। घासनी में साही की खोह के ऊपर औंधा गिरा। पास ही थी बुझ चुके अलाव की ओस भीगी राख। किसी ने जैसे पानी डालकर चिंगारियों को बुझा दिया था। एक हाथ भाले पर जमा। अकड़ी हुई उंगलियां, कोहनियां, घुटने ओस भीगी काली चमड़ी। बालों पर तब भी कोहरे की भीनी परतें बिछी थीं। आंखें खुलीं, जबड़ा कसा हुआ।

पुन्नु के सारे जिस्म में जैसे सुइयां चुभने लग पड़ी थीं। सुरंग के उस मुहाने पर बैठे उसे काफी समय हो गया था।

रह-रह कर उसे अपनी घरवाली के ऊपर गुस्सा आ रहा था। जिसने उसे जबरदस्ती ही साही की टोह लेने भेज दिया था।

"जा, बलया, 'बजिए' ने कुण झूठ बोलणा था? साही मिलगा तो पेट बी भरना और रएणे जो चार दिनां का 'थांव' बी मिलणा।"

बार-बार घरवाली के उकसाने पर वह अनमना सा चला आया था। हालांकि दिन में आकर वह देख गया था कि वहां किसी भी जानवर के ठहरने की उम्मीद नहीं थी। सुरंग के मुहाने पर घास ज्यों की त्यों उगी पड़ी थी, किसी तरह का कोई ऐसा निशान भी नहीं था जिससे लगता कि वहां कोई जानवर आता हो।

लेकिन शाम को वहां पहुंचते ही, जैसे ही उसने कुत्तों को बिल की तरफ उकसाया, वे लपक कर बिल के अन्दर घुसते चलते गए। पुन्नु को कुछ आस बंधी, जानवर पता नहीं कितनी देर में निकले, उसने आसपास गिरी चीड़ की पत्तियों और टहनियों को इकट्ठा कर एक ढेर-सा लगा लिया और सुलगा कर बैठ गया। सामने की पहाड़ी के पीछे सूरज डूबने की तैयारी में था।

कुत्ते वापिस न आए। रात पल-पल गहराती गई। आसपास से उतर कर कोहरे की परतें, सूखी घास, नंगे बान-चीड़ के दरख़्तों और ज़मीन पर परत-दर-परत जमती जा रही थीं। अलाव राख में तब्दील होता जा रहा था। पुन्नु, बिल के मुहाने पर, भाला हाथ में लिए, बैठा, कुत्तों के लौटने का इंतज़ार करता रहा।

'अब और नहीं बैठा जा सकता', पुन्नु का जिस्म अकड़ने लग पड़ा था। हाथ पाँव की उँगलियों में ऐंठन और टीस बढ़ गई थी। लग रहा था, जैसे उंगलियों के नाखूनों के बीच असंख्य कांटे गड़ गए हों, पसलियों को कोई धीरे-धीरे किसी धारदार हथियार से काट रहा हो। अलाव में अब राख बची थी जो गिरते कोहरे के साथ भीगती जा रही थी।

हिम्मत कर पुन्नु उठ खड़ा हुआ। स्याह अंधेरे में पुन्नु का जिस्म किसी कटे पेड़ के ठूंठ सा लग रहा था।

"आ—तोह—तोह—बिटु—बिटु आ तोह—टैंगर—।"

सन्नाटे को चीरती उसने आवाज़ को सुनकर पेड़ों पर बैठे परिंदे जैसे सहसा चौंक गए थे। खुद उसे उसकी आवाज़ जैसे जगा गई थी। कुरते की जेब से बीड़ी बंडल बाहर निकाल कर बीड़ी निकाली। कांपते हाथों से माचिस जलाकर उसने बीड़ी सुलगा ली। माचिस की लौ में उसका साया सूखी घास पर लहरा-सा गया। बीड़ी का कश लेते ही उसे ज़ोर की खांसी उठी। जिस्म की सारी हड्डियां आपस में बज उठीं। उसने खेस को कस कर अपने गिर्द लपेट लिया था। कुत्ते पता नहीं कहां मर गए थे। अब तक नहीं लौटे थे।

'आ—तोह—तोह-बिटू—टैंगर-टैंगर—। पता नीं किद्दर मर गए? रहामजादी ने बी साही के बिगेर कुछ होर स्वाद नी लगदा। बजिए का तो मैंनु पता ए, ज़मीन में नई बैठणी देगा न सई। होर थांव टोल लैंगे। ठण्ड मां कौण मरने आए इद्दर?"

कुत्ते लौट आए थे। अपनी पूंछों को हिलाते वे उसके गिर्द चक्कर काट रहे थे।

"कांह मर गए थे? जब था नी कुछ तो वारे आ जांदे।"

भाले की मूठ की हल्की-सी चोट उसने एक कुत्ते की पीठ पर की। कुत्ता किकिया कर

दूर हट गया।

पहाड़ी की चोटी के पीछे उजास-सी फैल गई थी। चांद धीरे-धीरे निकल रहा था। ठंडी हवा के थपेड़ों से चीड़ की सूखी पत्तियां हवा में लहराती ज़मीन पर गिरती जा रही थीं। पुन्नु धीरे-धीरे पगडंडी पर बढ़ रहा था।

बाप मर गया था। पुन्नु और मिठ्ठू ने गांव वालों की मदद से उसकी मिट्टी ठिकाने लगाई। गांव वालों ने दो चार दिन सूखी-बासी रोटियां देकर जैसे बाप के मरने का मुआवजा पूरा कर दिया था। फिर उन्हें वहां से जाने की ताकीद भी कर दी। मजबूरन उन्हें डेरा उठाना पड़ा। बिरादरी वालों ने हाथों-हाथ उन्हें सम्भाल लिया। पुन्नु सुखिया के चलते-फिरते डेरे का सामान उठाकर उसके साथ भटकने लगा, मिठ्ठू सुरतू साईं के साथ गांव-गांव जाकर बंदर-भालू का नाच दिखाने लगा।

पुन्नु तब पन्द्रह बरस का था, मिठ्ठू बारह बरस का था।

सुखिया भी वही काम करता था जो उसका बाप करता था। भाला चलाना उसे सुखिया ने ही सिखाया था। वह गांवों के हर उस बिल से परिचित हो गया था जहां भी जानवर ठहर सकता था।

सुखिया को जब ज़मीन का पट्टा मिला तो उसे भी मिला। ज़मीन पर जब कब्जा करने की बारी आई तो गांव वालों ने मार-मारकर उन्हें वहां से भगा दिया। अपनी चरांद में वे किसी बाहरी आदमी का दखल कब सहन कर सकते थे? कोर्ट कचहरी में जाने की उनकी औकात भी नहीं थी। फिर वही सुरंगे—वही भाला—वही कुत्ते।

अपने ब्याह की याद आते ही पुन्नु के बदन में जैसे गर्मी भर गई। चांदनी में पगडंडी किसी सांप की चमकती पीठ सी लहरा रही थी। चलते-चलते पुन्नु ने एक और बीड़ी निकाल कर सुलगा ली।

बिरादरी में कोई कंवारा रह जाए, ऐसा नहीं हो सकता। उसका रिश्ता हुआ तो सुखिया ने पूरी बिरादरी को न्यौता दिया। दो गीदड़ों का मांस पकाया गया। रिवाज़ के मुताबिक गुड़ की कच्ची शराब और मांस सबको परोसा गया। होने वाले ससुर ने अपने कुल्हड़ से पुन्नु को शराब पिलाई और अपनी पत्तल से मांस खिलाया। सगुन में उसे भाला दिया गया।

फिर 'पंचैत' हुई। बीच में टोकरी रखकर चारों तरफ़ बिरादरी के बुजुर्ग बैठे। बिरादरी वालों के झगड़े निपटाए गए। किसी को 'डान' (दण्ड) लगा, किसी का हुक्का पानी अलग कर दिया। नए रिश्ते हुए। मिठ्ठू का रिश्ता भी हुआ। बात ज़मीन के पट्टों की भी चली लेकिन उस पर क्या कारवाई की जा सकती थी? 'कोर्ट कचैरी' का झमेला कौन मोल लेता?

फिर उसका ब्याह हुआ। ज़िन्दा गोहों को आग पर पकाया गया। एक भेड़ और गीदड़ का मांस पका। बाजरे और जौ की रोटियां पकाई गईं। कच्ची शराब कुल्हड़ों में भर-भर कर पिलाई गई। गीदड़ की चर्बी के दीए जलाए गए। रात फिर 'पंचैत' हुई। टोकरी को साक्षी रखकर कई महत्वपूर्ण फैसले किए गए। फिर चरांदे में ही लोग इधर उधर फैल कर सो गए। अलबत्ता मिठ्ठू देर तक बैठा बांसुरी बजाता रहा। टैंट के अन्दर, पुन्नु ने नवेली को अपने आगोश में बांध लिया था।

दो साल बाद उसकी घरवाली को बच्चा हुआ। हरीसिंह—नाम सुनकर गांव वाले हंस देते। फिर एक लड़की, फिर लड़का, एक और लड़की। छः जनों का पेट भरना उसी के जिम्मे

था । मौसम ठीक होता तो पुन्नु जंगल में जाकर जानवर मार लाता । थोड़ा-बहुत मांस सुखाकर रख दिया और कुछ खा लिया । कुत्तों को हड्डियां डाल दीं । गांव से आटा सत्तू मांग लिया ।

गुज़ारा भर हो ही जाता । फिर भी डेरे के लिए जब भी वह किसी गांव में जाता, उसे रात को खेतों में लगे जानवरों को मारना ही पड़ता है । नहीं तो गांव वाले उसे बैठने न दें ।

इस बार फिर पुन्नु की घरवाली आस में थी । आखरी महीना चल रहा था । दो दिन से गांव वालों ने उसे तंग कर रखा था कि वह साही मार कर लाए या डेरा उठा दे । उधर घर वाली ने भी तंग कर दिया था । दिन से ही उसे जंगल जाने के लिए उकसा रही थी ।

"मेरा फिकर न कर । जित्थे चार जणे एक होर बी जणी देणा मैं । जे डेरे ते उठणे दी बारी आई तां मर जांगे, 'सीते' दे मारे ।"

कुत्ते, डेरा नज़दीक आते ही दौड़ लिए थे । तम्बू का फटा पर्दा हवा में लहरा रहा था । अन्दर सन्नाटा छाया था ।

पर्दा उठाकर पुन्नु अन्दर घुसा । ज़मीन पर बिछी कथरियों पर चारों बच्चे सोए पड़े थे । उसकी घरवाली टाट पर बेसुध पड़ी थी । एक कोने में रखे तसले में आग रखी थी, जहां अब राख के बीच में दो चार अंगारे चमक रहे थे । दिए की मध्यम सी लौ, टैंट के अन्दर जाग रही थी ।

आहट पर उसने आंखें खोलीं । करवट बदल ली ।

"मिल्या नईं कुछ बी ।" सफाई सी देता पुन्नु बोला ।

"सबेरे बजिए ने डेरा उठाई देणा ।" उसकी घरवाली ने कुनमुना कर कहा ।

"केड़ा पट्टा दे राख्या लिख के बजिए ने ? आज नी तां काल उठणा पौणा ।" पुन्नु को गुस्सा आ गया । हाथ में पकड़े भाले को एक तरफ पटक कर वह तसले के पास जाकर बैठ गया । उंगलियों से राख को इधर उधर किया । अंगारे चमक उठे । अपनी जात के नाम एक गन्दी-सी गाली निकाल कर उसने जैसे अपना सारा गुस्सा थूक दिया ।

जेब से बीड़ी निकाल कर उसने अंगारे पर रख फूंक मार दी । तसले से राख उड़कर उसके भीगे बालों पर चुपचाप बैठ गई । उसकी घरवाली ने 'खिदड़' को सिर तक सरका लिया ।

[7-A बाबा होटल, शिमला-171003]
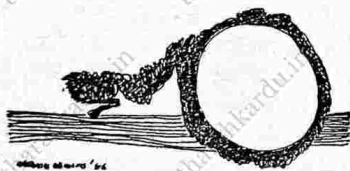
उलटे घर

□ गुरुदीप खुराना

"गया ?"

"हां ! गया।"

"क्या रहा ? पड़ोस से आई विम्मी ने लाल ऊन में उलझी अपनी सलाईयों पर ध्यान टिकाये रुचि से सवाल किया। रुचि ने कोई उत्तर नहीं दिया। उत्तर हो भी क्या सकता था, उसने होंठ मिचकाए। लेकिन विम्मी ने नहीं देखा।

"देखने में तो बड़ा हीरो है।" विम्मी ने वैसे ही बुनाई में उलझे हुए कहा।

"तुमने कब देखा।"

"मैं अपनी खिड़की से सब देख रही थी—हैंडसम तो बहुत है, क्यों ?"

"तुम्हें कैसा लगा ?"

"हैंडसम तो खैर है। पर…"

"पर क्या ?" विम्मी टटोलती है "पढ़ा लिखा है। गोल्ड मैडलिस्ट एक्जुक्युटिव इंजीनियर है, हैंडसम है, छोटी फैमली हैं। दहेज नहीं मांगता फिर क्या 'पर'।"

"कुछ 'फर्क' किस्म का है।"

"कैसे ?"

"सनकी किस्म का" कहकर खिलखिला-सी पड़ी।

"सनकी किस्म का ? लगता तो नहीं। पूरी बात बता न।"

"अरे छोड़" टालते हुए रुचि ने कहा, "पहले यह बता बुन क्या रही है ?"

"स्कीवी।"

"किसकी, अपनी ?"

"और किसकी।"

"यह बुनाई क्या है ?"

"बुनाई तो भई अपनी एक ही चलती है" विम्मी ने कहा "हर चार घर के बाद एक घर, उलटा कर दो। लेकिन छोड़ इसे। तू यह बता कि बात क्या हुई। वह तुझे सनकी क्यों लगा।"

"अरे छोड़ न ! ठीक है बहुत अच्छा है। बहुत आनेस्ट है, पर जरा…

"पर जरा क्या ? अरे बता न मरी ?"

कनपटी पर पेंचकस की तरह उंगली घुमाती बोली ।

"पर ज़रा सोचता बहुत है ।"

"कुछ अजीब बूढ़ों वाली बातें करता है । कहता है मेरी सिर्फ एक ही शर्त है कि मैं ऊपर की कमाई कभी घर में नहीं लाऊंगा । जो ईमानदारी से मिलता है उसी में रूखा-सूखा खा कर गुज़ारा करना होगा ।"

विम्मी की सलाईयां तेज़-तेज चलने लगीं ।

"तनख्वाह कितनी है ।" उसने पूछा ।

"पूछा तो नहीं पर होगा वही जो एक फ्रैश एक्जुक्यूटिव इंर्जानियर की होती है—कोई दो हज़ार या इससे भी थोड़ी कम होगी ।"

"इतने से क्या बनता है ?"

"वही तो···"

"हज़ार से कम में तो कोई ढंग का फ्लैट भी नहीं मिलता ।" विम्मी ने गंभीर होकर कहा ।

"उस पर हज़ार रुपया कार खा जाती है ? क्यों···?"

"आराम से ।" रुचि ने सहमति प्रकट की ।

"तो फिर खाओगे क्या और पहनोगे क्या ?" खीज में विम्मी के बुनने की रफ्तार और तेज़ हो गई । रुचि चौथे घर के बाद उलटते ही घर में अपना भविष्य खोजने लगी ।

"मैंने सनकी गलत तो नहीं कहा था न ।" कहकर रुचि फिर शरारतपूर्ण ढंग से मुस्कराई ।

"सनकी ?" तैश में आकर विम्मी बोली, "सनकी नहीं बल्कि पाजी कहना चाहिए ।" फिर रुककर बोली, "पता नहीं क्यों मुझे लगता है जो लोग पढ़ाई में ब्राईट होते हैं—उनके दिमाग कुछ हिल जाते हैं । वे इस दुनिया में रहने के क़ाबिल नहीं रहते । वे हवा में बातें करने लगते हैं ।"

"चलो अब क्या फायदा सोचने से अब तो 'हां' कर ही दी है ।"

"कर दी हां ।" रुचि के चेहरे पर संतोष देखकर विम्मी और भी खीज गई । बोली—"विम्मी ! तुम बड़ी बेवकूफ हो ! इतना पढ़-लिखकर भी तुम यह सीधा अरथमैटिक नहीं समझ सकीं— कैसे अपनी गृहस्थी चलाओगी ?"

"अरे चल जाएगी न यार ! क्यों चिन्ता करती है । नहीं रखेंगे कार, स्कूटर से काम चला लेंगे । घर छोटा ले लेंगे । किफायत से चलेंगे तो थोड़ी बहुत एडजेस्टमेंट की ही तो बात है..."

"लगता है काफी ब्रेन वाशिंग कर गया है ।"

विम्मी ने अपनी अगली सिलाई के साथ अगला तर्क-बुना—"वैसे इस तरह के लोगों का हश्र अच्छा नहीं होता ।"

"क्यों ? चिंतित—हो", होंठ छीलती रुचि ने पूछा !

"तुमने धरमिन्दर की वह फिल्म देखी थी । जिसमें वह इंजीनियर बनता है ।"

"कौन सी 'वो' कह रही हो—क्या नाम था उसका—हां 'सत्यकाम' वही ना ?"

"हां ! एक्ज़ैक्टली !···याद है, उसमें क्या हालत हुई थी उस ईमानदार हीरो की ।"

"वह कैंसर वाली बात कर रही हो"

"हां।"

"वो तो आज उसी ने सुनाई थी। मुझे उसी ने उस पिक्चर की बात बताई थी···कह रहा था ईमानदारी के रास्ते पर चलने वालों को लोग उसी फिल्म का अंजाम सुनाते हैं।"

"तो फिर तूने क्या कहा।"

"मैंने पूछा जानबूझ कर तुम ऐसे रास्ते पर चलते क्यों हो ?"

"तो फिर वह क्या बोला ? क्या ? क्या कहने लगा वह ?" विम्मी का बढ़ता हुआ कौतूहल उसकी सिलाईयों की रफ्तार से समझ आ रहा था।

"कहने लगा, कैंसर से मरना कैंसर बनकर जीने से कहीं अच्छा है।"

"क्या मतलब ?" उसकी सिलाई वहीं रुक गई।

"वह कह रहा था कि जो लोग बेईमानी से धन कमाते हैं वह समाज का कैंसर हैं।"

"वही घिसा-पिटा डायलाग।" विम्मी ने नाक चिढ़ाकर कहा। और पूछा—

"तो तुमने उसे पलट कर कुछ नहीं कहा।"

"न !"

"क्यों ?"

"मुझे उसकी बातें बड़ी सच्ची लगीं।"

विम्मी ने उसे घूरकर देखा—"अब चाटती रहना सच्चाई को उमर भर···गधी।"

"गाली क्यों देती है।" रुचि ने तुनक कर कहा।

"अरे तुम जैसे बेअक्ल को गाली नही दूं तो क्या शाबाशी दूं···" गुस्से में विम्मी बोली—"एक तो वह छोरा हम सबको कैंसर बता गया। दूसरा तू उसको गले से लगा रही है। और गधृ-धी···फिर मेरे मुंह से गाली निकलवाती है, अगर हम लोगों के मां-बाप इस बंधी-बंधाई तनख्वाह में रहते तो क्या हमें ऐसी अच्छी तरह पढ़ा-लिखा सकते थे। इतने ऐशो-आराम करवा सकते थे।···तुम्हें पता है तेरी कार में कितने रुपये महीने का पैट्रोल फुंकता है···उसे भी छोड़—अब तेरी शादी में तो लाखों का खर्चा होने वाला है उसे क्या तेरे डैडी अपनी तनख्वाह में पूरा कर सकते हैं।—तब तो वह तुम्हारा चौधरी का बच्चा भी सेहरा लगाए लाट साब की तरह आकर खड़ा हो जाएगा और बात-बात में मीन-मेख निकालने लगेगा। अरे उस उल्लू की दुम से पूछो कि कल को बहन की शादी कहां से करेगा—तब उसकी सत्यकामी कहां जाएगी।"

"मैंने पूछा था।"

"क्या बोला ?"

"कहता था मैं अपनी शादी भी निहायत सादगी से चाहता हूं और बहन की शादी भी बिना आडंबर के करूंगा। जो कुछ खर्चा होना है उसके लिए उसके डैडी ने पहले ही से एक 'पालिसी' ले रखी है—बाकी देखा जाएगा।"

"अजीब सनकी है।" विम्मी ने कहा।

"वही तो मैं भी कहती हूं। है सनकी सा।"

"तो फिर, हां, क्या सोच कर कर दी।" विम्मी ऊन के गोले का खुला धागा उलझ रहा था। रुचि फिर अपने होठ छीलते हुए बोली—"पता नहीं क्यों मुझे उसका सनकीपन बुरा नहीं लगा।"

"हूं···हूं" चिढ़ी हुई आवाज़ में विम्मी बोली—"तो फिर ऐसे मुंह क्यों फुलाए हुए थी।"

"सोच रही थी, इतनी लिमिटेड इन्कम में कैसे गृहस्थी चलेगी।"

"खाक चलेगी···रोती फिरेगी—गांठ बांध ले मेरी बात। और सुन !···"

उसने धागा सुलझाकर अपनी नयी सिलाई के साथ एक और तर्क दिया "तुमने उस पुल वाले ईमानदार इंजीनियर का किस्सा सुन रखा है न···।"

"किसका ?···"

वह जिसने आखिर तक ठेकेदार से रकम नहीं ली थी और बाद में उस ईमानदार के बच्चे की लाश गोमती के किनारे मिली थी।"

"यह किस्सा भी उसने आज सुनाया था।"

"उसने सुनाया था ?" विम्मी फिर तड़क कर बोली—"उसने सुनाया था फिर भी तुझ गधी की खोपड़ी में नहीं घुसा।"

"देख विम्मी मैंने कह दिया, मुझे यह गाली मत दो, मुझे इस गाली से सख्त नफरत है।"

"ठीक है नहीं देती गाली···तुझे वह चौधरी का बच्चा जो घुट्टी पिला गया है उसी को पीती रह और मर।"

"कोई बात नहीं" रुचि ने ठंडी सांस लेकर कहा—"मुझे उस सनकी के साथ मरना ज्यादा पसंद है ऐसे जीने से।"

विम्मी खामोश थी। उसकी बुनाई में कुछ गड़बड़ हो गयी थी।

"क्या हुआ।" रुचि ने पूछा।

"कुछ नहीं अपनी सिलाईयों की तरफ निगाहें गड़ाए विम्मी बोली—कुछ गलत हो गया है, एक घर जो उलटा होना था, लगता है सीधा हो गया है।"

[29, चकरौता रोड, यमुना कालोनी, देहरादून-248001]

चार कविताएं

□ वंशी माहेश्वरी

शांत जल पर ख़ाली नाव

उसकी इच्छा इतनी भर है
खुद का घर द्वार हो
जाने से आने तक के इंतज़ार में
पारिवारिक आँखें
दूर दराज़ तक फ़ैली रहें।

उसकी इच्छा का क़द
भर दुपहरी में तनी
खुद की परछाई की तरह है।

उसका अल्पसंख्यक विस्मय
ठीक वैसा है जैसा
हरे भरे वृक्ष में
कहीं अदृश्य सूखा पत्ता थरथराता है।

उसकी चीज़ों की स्वायत्ता
इतनी भर है कि
वे मतलब के नतीजे तक आते आते
अपनी पहचान बना सकें।

उसकी धारणा
थकी हारी संभावना के नज़दीक
मुमकिन के ख़ाली स्थान भरने का

जोखिम उठाती है।
लम्बे समय से
यह तंग सिलसिला
उसके साथ टोह लेता चल रहा है।

उसका मर्म
चौबीसों समय उपस्थित रहता है
और आसपास छूने की बारदातें घटती रहती हैं
काँच जैसी निर्मल आँखों में डर बहता है,
उसका विश्वास
नींद में सोए आदमी के स्वप्न की सुबह है।

इतनी समृद्ध
शिकायतों के बाद भी
उसकी निर्विकार सहनशक्ति,
शांत जल पर खाली नाव है।

आवाज़ इतनी पहचानी

गुज़र चुके दिनों के ख़्याल में
टहलना हुआ
सुबह की ताज़ी हवा में ज्यों
हवा पानी धूप में पौधा बढ़ा।

एकांत अँधियारे के साथ बैठ कर
रह रह कर उठती रही
मन में कई बातें
जिन का उठना न उठना भी नहीं रहा
तिरस्कृत हो जाना रहा।

चक्कर खाकर भी समय
अपने भीतर उठा बैठा
सहस्रों मील चलकर भी क्या रखा
कोशिश पछताने में आसीन रही।

आवाज़ इतनी पहचानी कि लगी अपनी
सोचा हुआ चुपचाप उठकर थक जाना बेहतर
जितना सोचा
उसके आसपास तक
अभ्यस्त इच्छा भी नहीं रही
इतनी कि
बाहर आ जा सके सुस्ता कर ।

वही जगह
कितने वर्षों के भी
खोयी रही सम्मोहन में ।

सवार

वह दो घोड़ों को लिए
पैदल चल रहा है
पैदल चलना उसका जटिल प्रसंग नहीं है ।

वह अलग-अलग
बदल-बदल कर
घोड़े पर सवार होता है
सवारी करना उसकी अनवरत दिनचर्या नहीं है ।

वह दो घोड़ों की
अचरज विहीन कहावत में काँपता है
काँपना उसका असल मक़सद नहीं है ।

वह अपने बंधे घोड़ों को
हांफते, सुस्ताते बर्दाश्त नहीं कर पाता
नहीं जाना जहाँ
वहाँ जाना भी
उसका असमंजस-भरा इत्मीनान है ।

जब से दो घोड़े उसके पास हैं
वह इसी तरह

सवारी करता है
पुलकित हुए वह बिल्कुल उदासीन नहीं है।

उदासी आकर अटक जाती है

नितान्त अपनी
बितायी सारी स्मृतियाँ
आसान कर देती हैं
अलग-अलग जवाब
और जो साफ-सुथरा बचता है
पूरे समय
बिना थके हारे
भरोसामंद आदमी जैसा चलता है।

कुछ ख़ास ढंग से
बँधी बँधायी दुनियादारी निःसंकोच के सहारे
खुशी खुशी चल रही है
जैसे
अकल्पनीय संकोच की दिक़्क़तें भी
आड़ें नहीं आती
सीने से हाथ बाँधकर
असरदार समय भी
भावुक लापरवाही का लिहाज़ नहीं करता।

कितना शानदार डर फ़ैला है चतुर्दिक !
और प्रचलित तक़लीफ़ें
खुद के बहरेपन के नज़दीक
साफ़ नीयत का राग अलापती है।

ठीक ऐसे समय
अपने भोलेपन के साथ
उदासी आकर
अटक जाती है
संकरी गली में जैसे
आमने-सामने सवारी गाड़ी।

[57, मंगलवारा, पिपरिया, म० प्र०]

वेताल की छब्बीसवीं कथा

□ अवतार एनगिल

रात के सन्नाटे को
मौन के मन्त्र से बेधते हुए
राजा विक्रमार्क
फिर जंगल में गये
रुके
पेड़ निहारा
वेताल का शव उतारा
और कंधे पर लाद कर चल दिये

मुर्दा बोला :
हे, हठी राजा !
अर्थ मौन में नहीं
शब्द में है
क्योंकि वह अर्थ का वाहन है

मैं पूछता हूं
तुम ज़िन्दा होते हुए भी
क्यों मौन का मुर्दा ढो रहे हो
और मैं, मुर्दा होकर भी
शब्दों का रथ हांक रहा हूं

हे राजन !
यदि जानबूझकर
तुमने मेरे प्रश्न का उत्तर न दिया
तुम्हारा ज्ञानी मस्तक
लाखों टुकड़ों में बंटकर
दसों दिशाओं में बिखर जायेगा

तब विक्रमार्क बोला :
हे वेताल !
तुम्हारे प्रश्न के गर्भ में
उत्तर का बीज पहले ही पड़ा है
मैंने तो तेरे ही सत्य को घड़ा है
तुम्हीं ने कहा

कि शब्द ही अर्थ का वाहन है
और फिर पूछा
कि विक्रमार्क क्यों
जीवित होते हुए भी
मौन का मुर्दा ढो रहा है
और तुम
मुर्दा होने पर भी
शब्दों का रथ हांक रहे हो

हे वेताल।
शब्द तो मात्र एक रास्ता है
जबकि मौन मंजिल है

जानने के बाद
सभी शब्द अपने अर्थ खो देते हैं
और शब्दों के व्यापारी
अन्त में रो देते हैं
तभी तो ऋषि
मौन की गुफा से
बाहर नहीं निकलना चाहता

पर ऋषि नहीं—राजा हूं मैं
बार-बार मेरा मौन टूटेगा
और मैं
तुम्हारा वाहन बनकर
मुर्दा शब्द को
अर्थ की मंजिल तक पहुंचाऊंगा

विक्रमार्क का मौन टूटा
वेताल उसके कंधे से छूटा
और वापिस जाकर
पेड़ पर लटक गया
जिज्ञासू राजा
एक बार फिर
शब्दों की घाटी में
भटक गया।

[सिंहसभा भवन, शिमला-171001]

दो कविताएं

□ विनोद शाही

नामरूप पुराण

इतिहास के नाम
जो धीरे-धीरे हमारी शक्लें बन गए हैं
उन्हीं के खिलाफ जूझना है हमें
पहचानना है नामों से पवित्र की जा रही
शक्लों के / घिनौने रूप को
अपने ज़रा और करीब आना है

लेकिन सवाल यह है
कि आकाश को / पत्थर बांधकर
किसने तहखाने का नाम दिया है ?
और पता नहीं कैसे
आकाश भी नामों के झमेले में उलझकर
अपनी शक्ल को भूल गया है ?

ऐसे हालात में
गुरुत्व के नियमों का उल्लंघन कर
ऊपर की तरफ उठते अंकुरों के रूप में
जीवंत होता है पुराण एक
समेट कर पूरे विश्व की हकीकत
ऊपर लाता है निम्न को
नम्रता में बदल डालता है / बड़प्पनों को
उतार लाता है ज़िन्दगी को
नामों और शक्लों के कंकालों में
घिनौनेपन के खिलाफ होकर उग्र
सात्विक उत्साह में होकर बेकल
इतिहास को देते हुए / सचमुच एक जीवन

आत्मगर्भ

कविता / कब होती है आत्मगर्भ
पके हुए फल के मानिंद ?

अपने उदर में खुद को / बच्चे की तरह लिए फिरना
किसी अदृश्य नाल से जुड़े / मांस के थैले की तरह
अपने जिस्म को देखना
उंगलियों से पकड़ कर चूसना / पांव के अंगूठे को
थाम लेना अपने आप को ही / हाथों में अपने
जब जब होता है संभव यह
थम जाती है किसी और के गर्भ में
समा जाने की ख्वाहिश
हुए बगैर कविता
नहीं होती / किसी को सुन जाने की ख्वाहिश

पकते हुए लोग
सारे युद्धों को / ले आते हैं अपनी बुद्धियों तक
और धड़कते हृदयों की तरह हिलती
पताकाएं थाम कर / करते हैं नेतृत्व
सारथी के मानिंद

करते हैं रक्षा
गर्भ में छिपे अज्ञात भविष्य की
जब जब होता है संभव यह
उर्वर हो जाते हैं रुके हुए गर्भ
कविता होने तक
झेलते हुए दुस्सह प्रसव पीड़ाएं
करते हैं जीवन के जन्म लेने का इंतज़ार

तीन कविताएं

□ सतीश धर

अधूरी तलाश

अचानक फैली अफवाह
हरे-भरे खेत
खलियान
फ़ले-पूरे बाग़ान
गांव
आंगनबाड़ा
खुद मुख्तार अखाड़ा
सभी कुछ छोड़कर
गायब हो गया है
गरीबदास

सुनी मुनादी
पड़ौस के गांव ने
कद-काठ में लम्बा
शरीर दुबला
बग़ल में दबाए
अखबारों की क़तरनें
सुना है
निकला है
गरीबदास पेट भरने

कुछ कहते हैं
कल ही देखा था उसे
अर्धनारीश्वर के समक्ष
औंधे मुंह बुदबुदा रहा :
  सत्य कह ईश्वर
  क्या हूं मैं
  नर अथवा नारी
  या भूख से पैदा बीमारी

कुछ कहते
वृक्षों में खुद को
पीपल मानता गरीबदास
इसीलिए बैठा है
पीपल के पास

उस दिन जब
इश्तहारी मुलज़िम की तरह
दूरदर्शन की ख़बर बना गरीबदास
तब से नहीं आया वह
नहीं आया शहर के पास

सुना है उस सिरफिरे ने भेजा है
एक पुर्जा
जिस पर दर्ज है
उसके ग़ायब होने का सन्देश

अजीब से शब्दों का जोड़
शायद आए इन शब्दों का
अर्थ समझ
आने वाले किसी युग में
जब न होगा
भूख का कोई नामोनिशां
या गरीबदास को ढूंढ़ने की
कोई असफल कोशिश

पहाड़ की औलाद

पहाड़ की औलाद ने
महसूसा था
पसीने का नहीं होता
कोई रंग

ठण्डे शहर में पैदा हुए
उसके पुरखे

उनके जिस्मों से आती रही दुर्गंध
फैलती चारों ओर
जंगल जलने की गंध

तभी से फिसलता गया पहाड़
जलता गया मैदान
मौसम बनता हैवान

आया कहीं से शिव का पैग़ाम
समझ रहा पसीने की क़ीमत
बीमार है फौलाद
पहाड़ की औलाद

फिसलेंगी नहीं बर्फीली चट्टानें
धराशायी होंगी सभी योजनाएं
खड़ा रहा दो हज़ार एक
...माथा टेक

फैली यह ख़बर चारों ओर
दौड़े नंदीगण पहाड़ की ओर
आजमाया सभी ने ज़ोर
नारों में दबता गया
नदी का शोर
अब न कहीं पसीने की बूंद
न खून का निशां

उसके माथे से
जब रिसता कोई क़तरा
चिल्लाते वे
कमबख्त
कामचोर
घबराकर
पसीने को खून का रंग दे रहा है—

घबराई पहाड़ की औलाद
थरथर्राया वह फौलाद
पहाड़ का फिसलना नियति है
सच ! आप बीती है

फैसला अदालत का

नियम निर्धारित है
फ़ैसला अदालत का
कि जिन लोगों पर दायर है
बहुत बोल कर साजिश रचने का मुकदमा

उनकी जुबां पर लगा दो ताले
और बाहर से बने रहो
भोले-भाले
मतवाले
यह तहज़ीब है
कहना बूढ़े दरख्त का
तक़ाजा वक्त का
तक़ाजा वक्त का
फैसला अदालत का।

[जन-सम्पर्क अधिकारी, धौलाधार परियोजना, पालमपुर, हि० प्र०]

तीन कविताएं

☐ विमल कुमार शर्मा

ऑक्टोपस

कुछ आवारा विचार
निरुद्देश्य
ऑक्टोपस की
आठ बाजुओं में
मुझे जकड़े रहते हैं
हर समय

और मैं छूट नहीं पाता
चाहकर भी
इस मजबूत पकड़ से
एक बिना हारपून

और डूबे हुए जहाज़ के
किसी तरह बचे हुए
निरीह लंगड़े जहाज़ी की तरह
जिसे दिखाई भी कम देता है

ऑक्टोपस चाहता है उसे मारना
मगर अभी वह चाहता है जीना

अतीत से इनका कोई सम्बन्ध नहीं
वर्तमान इनके लिये
नहीं रखता कोई माने
ये तो हैं शायद
भविष्य का वह प्रतिबिम्ब
जो रेटिना के पीतबिन्दु पर
बनने की अपेक्षा
अन्ध-बिन्दु पर बना है

दरख़्त, पत्ते और परिन्दे

पतझड़ के आने तक
पत्तों की अहमीयत कुछ भी न थी
उस बड़े पेड़ के लिये

रुक सा गया था
बहार का इन्तज़ार

घड़ी की सुइयों के
चलते रहने के बाद भी
पेड़ खोता जा रहा था
अब तो अपना अस्तित्व ही

परिन्दों की हालत थी
उधार लिये व्यक्ति की सी
जो हर शाम चहचहाते थे
पेड़ की खुशहाली के गीत
अब आते ही नहीं थे
आंखें मिलाने

बहुत से तनहा लम्हे गुज़र जाने के बाद
धीरे-धीरे आने लगी बहार
मगर पेड़ के दिल में
ऊंचा हो गया था
पत्तों का अस्तित्व
झूम उठता था
वह मन्द-मन्द
हवा के झोकों के साथ
संग में
पत्तों के होने का एहसास लिये

होने लगी आबाद
परिन्दों की दुनिया भी

खुश था पेड़
बहार के आगमन पर
मगर रो पड़ता था
कभी-कभी
पतझड़ के एहसास से
यद्यपि
पतझड़
था अभी दूर

सुनहरा आकर्षण

सुबह की धूप के आने पर
शुरू हो गया ओस का सफ़र
रात भर की साथी
दूब को छोड़
वह जाने लगी
आसमान की ओर
एक बार भी मुड़कर उसने
नहीं देखा दूब को
शायद यह सोचकर
कि अब मैं ऊपर ही रहूंगी

आकाश में सूरज के साथ

लेकिन अन्ततः हर रात उसे
दोस्त बनकर आना है
जिसके लिये अभी भी है
उसका अस्तित्व

मगर पागल ओस
नहीं समझ पाती यह रहस्य
यह जानते हुए भी
कि सोने की तरह
चमकने से ही
हर चीज़
नहीं हो जाती सोना

[ग्राम पड़घ, डाक० सोलन ब्रूरी० जि० सोलन, हि० प्र०]
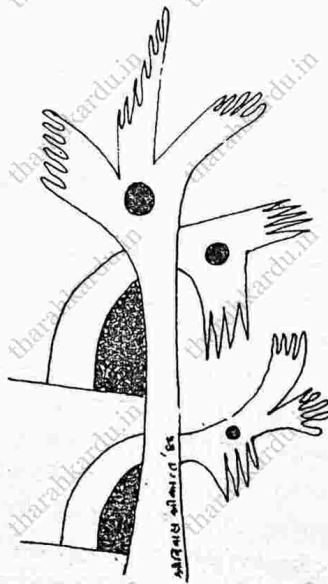
पाब्लो नेरूदा का काव्य संसार

□ परिचय एवं अनुवाद : एम० एस० पटैल

पाब्लो नेरूदा अब नहीं हैं। विरासत में मिला उनका एक काव्य संसार है। उनकी साहित्यिक और सांस्कृतिक धरोहर है। जीवन के प्रगाढ़ अनुभव हैं। अपने देश की भूमि में रसखान की तरह मरना और जीना चाहते थे। देश की मिट्टी से प्यार था। मानवीयता के हिमायती थे। न्याय के लिए जूझते रहे। फ़ाजिवाद के फौजी आक्रमण के समय लहूलुहान स्पेन को जीवित रखा।

पाब्लो की कविताएं बौद्धिक विलास न होकर जीवनानुभूति की एक घनीभूत परिणति है। वे विचित्र क्षमताओं वाले कवि थे। नेरूदा का काव्य संसार इस दृश्य संसार के अलावा एक और संसार से परिचय कराता है। यह हमारे समय की आत्मीय और परिचित दुनिया है जो ऐतिहासिक परिदृश्य में अपनी तमाम विद्रूपताओं के रूप में प्रकट हुई। उन्होंने अपने समय के संसार को कविता की परिधि में बांधा।

पाब्लो नेरूदा सच्चे अर्थों में जनवादी कवि हैं। इनका काव्य, कला का इतिहास है। नये सौन्दर्य बोध की बुनावट है। उन्होंने प्रतीक तथा बिम्बों को उपकरण के रूप में न लेकर कविता के लिए आवश्यक बनाया। उनका कहना है—

मैं लिखता हूं खिली धूप में, भरपूर सड़क पर,
मैं गा सकता हूं, ज्वार-भाटे के स्थान पर। (सामर्थ्य)

नेरूदा की कविताएं संबोधित करती हैं। उन्होंने मिथकों और प्रतीकों का आधुनिक जीवन की समस्याओं के रूप में नया भाष्य किया है। उनके "माच्चू पिच्चू के शिखर" केवल वहां के निवासियों की सृजन पूर्ण सभ्यता, जटिलतम समाज व्यवस्था ही नहीं है बल्कि आज खंडहरों, अंधेरी घाटियों और झुग्गी-झोंपड़ियों में रेन बसेरा करने वाली निरीह जिंदगी की अनुगूंजे भी उसमें शामिल हैं। नेरूदा की प्रसिद्ध कविता 'माच्चू पिच्चू के शिखर' लातीनी अमरीका की सांस्कृतिक विरासत है। इंका वासियों का दस्तावेज है। खंडहरों में छिपा मूर्त्त और अमूर्त्त संसार है। पेरू के लोग इसे 'पवित्र घाटी' कहते हैं। जहां वर्षों पुरानी संस्कृतियों के खंडहर भरे हैं। कितनी ही संस्कृतियां शहर के इतिहास में दबी पड़ी हैं। लेकिन रहस्य की एक चादर आज भी इन खंडहरों पर छायी हुई है।

नेरूदा अपनी काव्य-यात्रा प्रेम कविताओं से प्रारंभ कर 'राधा की लोक सेवा' या 'हृदय में स्पेन' या 'सार्वजनिक गीत' तक तय करते हैं। इस यात्रा के पड़ाव में उन्होंने जिंदगी के अनुभव, शोषण और उत्पीड़न के खिलाफ दर्द को भोगा और चारों तरफ फैली भयानकताओं को झेलते हुए तूफानों की ओर बढ़े। मुक्तिबोध की तरह अपने काव्य में पूर्ण होकर जिये। उनके व्यक्तिगत अनुभव कविता में आकर एकाकार हो जाते हैं। अपने जीवन और अभिव्यक्ति के माध्यम से पूर्ण मानवता उसके दु:ख-दर्द, उल्लास और अवसाद, सब कुछ को वह छूना चाहते हैं।

पाब्लो नेरूदा का जन्म 12 जुलाई 1904 में दक्षिणी चिली के पर्राल नामक स्थान में हुआ लेकिन उनका बचपन तेमूको में बीता। उनका वास्तविक नाम नेफ़्ताली रिकार्डो रेयेज़ था लेकिन नेफ़्ताली को पाब्लो में बदलकर और एक चेक लेखक नेरूदा का नाम उसके आगे जोड़ दिया। नेरूदा के पिता चिली रेल्वे में काम करते थे। उन्होंने सोलह वर्ष की आयु में तेमूको छोड़ दिया। सांटियागो विद्यालय के छात्र हो गये। वे बचपन से कवि थे। सन् 1924 में उनकी बीस प्रेम कविताएं प्रकाशित हुईं सन् 1933 में 'धरती पर घर' का प्रकाशन हुआ। सन् 1937 में 'हृदय में स्पेन' आया। सन् 1940-42 में मेक्सिको के राजदूत रहे। सन् 1945 में सेनेटर हुए। 1905 में उन्हें अन्तर्राष्ट्रीय शांति पुरस्कार और 1953 में लेनिन शांति पुरस्कार प्राप्त हुआ। सन् 1971में साहित्य का 'नोबेल पुरस्कार' मिला। 23 सितम्बर,1973 में 69 वर्ष की आयु में नेरूदा की मृत्यु हुई।

नेरूदा ने अपने महाकव्य 'कैन्टो जनरल' को बारह वर्ष की साधना के बाद पूर्ण किया। इसमें 15 खंडों में विभाजित 340 कविताएं हैं। लातीनी अमरीकी महाद्वीप के भौगोलिक और राजनैतिक जीवन की ज्वलंत तस्वीरें कविता के माध्यम से प्रस्फुटित हुई हैं :

"विश्वासघाती जनरलो,
देखो, यह मेरा सूना घर है,
यह छिन्न-भिन्न स्पेन है।
लेकिन हर सूने घर में
फूलों के बदले
फौलाद ढल रहा है।

लातीनी अमरीका की नसों में एक जीवंत संस्कृति का प्रवाह है। लेकिन उसका राजनैतिक मेरुदंड मृतप्राय: है। यह वहां की सांस्कृतिक समस्या है। लेकिन खंडहर भी बोलते हैं। अतीत के चेहरे उनमें छिपे हैं। नेरूदा का काव्य निराश मानवता का दस्तावेज है। उनकी कविताओं के शब्द खून की तरह स्पेन की शिराओं में बह रहे हैं। नेरूदा का काव्य संसार केवल लातीनी अमरीका का ही नहीं है। वह हमारे और तुम्हारे बीच का संसार है। उसमें विश्व काव्य की झलक है। नेरूदा ने अपने समाधि लेख में कहा है :

जंगल के दरवाजे बन्द थे
चारों तरफ पत्तों को खोलता जाता है सूर्य
सफेद फल जैसा प्रकट होता है चन्द्रमा
आदमी अपनी नियति पर झुकता है।

पाब्लो नेरूदा की छः कविताएं

कविता

और वह यह युग था···कविता
मुझे ढूँढ़ती आयी

मैं नहीं जानता,
कहाँ से वह आयी, नहीं जानता,
शरद् या नदी से,
कब अथवा कैसे,
नहीं नहीं, न वे स्वर थे, न शब्द, न खामोशी, नहीं जान पाया,
परन्तु सड़क से
और रात की शाखाओं से,
उसने मुझे अनायास बुलाया,
बिना मेरी उपस्थिति के
धुँआधार आग के बीच
अथवा अकेले में लौटते हुए,
उसने मुझे स्पर्श किया।

क्या कहना है मुझे नहीं जानता था
हालांकि कोई पहचानी सड़क मेरे पास नहीं थी,
और कोई चीज हतप्रभ करती मेरी आत्मा में सक्रिय थी,
इसके बाद भी मेरी आंखें अंधी रहीं,
उत्तेजना अथवा भूले बिसरे डैने,
और अपना रास्ता,
आग के अर्थ को खोलते हुए बनाया,
तब मैंने पहली धुँधली पंक्ति लिखी,
शुद्ध अण्डबण्ड, अनाड़ी का विशुद्ध पांडित्य,
और अचानक मैंने
खुले उन्मुक्त आकाशीय गृह,
स्पन्दित बागान
फूल, आग और तीरों से
चुभती परछाइँ,
कसैली रात और त्रिभुवन देखे

मेरे जैसे साधारण प्राणी ने,
तारों में व्याप्त निर्जनता का पान किया,
अपने आपको अताल-पाताल की,
समतामयी प्रतिभा का, विशुद्ध अंश माना,
मैं नक्षत्रों के साथ घूमता फिरा,
और मेरा हृदय हवा में निर्बंध होकर टूट गया।

क्या बोया क्या काटा

वह आदमी निःसन्देह अच्छा था,
जैसे उसके हल-बखर और कुदाल थे,
उसे नींद में भी
सपने देखने की फुरसत नहीं थी।

उस कंगाल ने खून पसीना बहाया।
एक घोड़े का वह धनी था।

आज उसका लाड़ला बड़ा अहंकारी है
और गाड़ियों का स्वामी है।

वह सांसद की भाषा बोलता है,
चौकड़ी भरता है,
अपने देहाती बाप को विस्मृत कर
गड़े-मुर्दे बखान रहा है।
मोटे-ताजे अखबारों की भांति सोचता है
दिन-रात, नींद में भी
धन-दौलत कमाता है।

पुत्र के पुत्र बहुत हैं
उनकी शादी भी हुई है।
वे नालायक हैं
निठल्ले हैं, उड़ाऊ-पूत हैं।

उसके नाती-पोती
धरती पर क्या करते हैं ?
वे किस लायक हैं ?

भले ही तुम उत्तर न दो,
नहीं होने प्रश्न समाप्त।

तानाशाह

एक गंध गन्नों में समायो है :
खून और शरीर से मिलकर,
बेधती पंखुड़ी उबकाई लाती है
नारियल के वृक्षों के बीच
अवाक् मृत्यु की सरसराती
ध्वस्त अस्थियों से कब्रें भरी पड़ी हैं;
रेशमी टोप, सुनहरे फीते और पट्टों में कसा
सुकुमार तानाशाह बातचीत कर रहा है।
उसका छोटा महल घड़ी की तरह दमक रहा है
जिसमें दस्ताने पहने ठहाके
बहुधा गलियारे पार करते हुए
मृत आवाजों और अभी-अभी दफ़नाये
नील-मुखों में समा जाते हैं।
जिसके बीज ज़मीन पर अनवरत गिरते हैं,
उस पौधे की तरह, बिलखना नहीं देखा जा सकता
जिसकी अंधी चौड़ी पत्तियाँ
प्रकाश के अभाव में भी बढ़ती हैं,
घात प्रतिघात करती,
चुपचाप टपकते हुए थूथन लिये
दलदल के भयावह जल में
पग-पग पर घृणा पनप रही है।

आज की रात लिख सकता हूं…

आज की रात सघनतम उदास पंक्तियाँ लिख सकता हूँ

जैसे 'दरकती है रात
और फासले पर ठिठुरते हैं सितार !'

घुमड़ती हवा की रात आकाश में सनसनाती है।

आज की रात सघनतम उदास पंक्तियाँ लिख सकता हूँ
मैंने उसे प्यार किया, वह कभी-कभी मुझे भी प्यार करती थी।

रातों में से रात मैंने उसे बांहों में बांधा इस रात,

अनंत आकाश के नीचे बारम्बार उसे चूमा मैंने।

उसने मुझे प्यार किया मैंने भी कभी-कभी उसे प्यार किया।
कौन है जो उसकी विशाल आँखों को इतना प्यार नहीं कर सका।

आज की रात सघनतम उदास पंक्तियाँ लिख सकता हूँ।
वह मेरे करीब नहीं है सोचने को महसूसने को उसे जाना नहीं मैंने।

कहने को असीम रात है, लेकिन उसके बिना और भी असीम।
घास के मैदान पर ओस की तरह आत्मा में झरती है कविता।

क्या वजह है कि मेरा प्यार उसे समेट नहीं सका।
दरकती है रात और वो मेरे साथ नहीं है।

इस पर भी, फासले पर गीत कोई गा रहा है। फासले पर।
आत्मा मेरी संतप्त है वह खोयी जा चुकी है।

उसके सानिध्य को ढूँढ़ती हैं आँखें मेरी।
और मेरा मर्म उसे खोजता है, साथ वो मेरे नहीं है।

अतीत की रात अतीत के वृक्षों को रंगती हुई।
और हम भी न रहे उन दिनों की तरह।

उसे उतना प्यार नहीं किया फिर भी कितना प्यार किया है।
हवा में गुमशुदा स्पर्श उसके शब्द मेरे खोजने की कोशिश बने।

उसकी चहकती देह, वे गहरी आँखें, वे शब्द।
मेरे विगत चुम्बनों की तरह, वह होगी किसी की भी।

इस पर भी मैं उसे प्यार करता रहूँगा।
प्यार कितना सरल है और विस्मरण कितना कठिन।

रातों में से रात मैंने उसे बाँहों में बाँधा इस रात।
आत्मा मेरी संतप्त है वह खोयी जा चुकी है।

रचूंगा छंद जो होंगे वे अंतिम मेरे।
भले ही अन्त तक मर्मांत होता रहूँ।

रोज़ स्वाँग रचाती हो…

तुम रोज़ त्रिभुवन के उजाले से स्वाँग रचाती हो।
फूल और जल में पहुँचती हो, मर्मज्ञ दर्शनाभिलाषी सी,
इस बर्फीले हंस से तुम कहीं अधिक हो
जिसे मैं गुलदस्ते की तरह रोज़ हाथों में थामता हूँ।

तुम किसी के समान नहीं हो क्योंकि मैं तुम्हें प्यार करता हूँ
मैं तुम्हें पीले फूलों की मालाओं के बीच बिखेर दूँ
दक्षिण के नक्षत्रों में तुम्हारा नाम धुएँ के अक्षरों से कौन लिखता है?
याद करने दो मुझे जैसे पहले तुम कभी मौजूद थीं।

अचानक चीखती हवा मेरी बन्द खिड़की को भड़भड़ाती है।
आकाश मायावी मछलियों से खचाखच भरा एक जाल है।
कभी न कभी मुक्त कर दो यहाँ उन सभी हवाओं को।
जहाँ बारिश अपने कपड़े उतारती है।

आगे पीछे पक्षी फरार होते जाते हैं।
हवा। हवा।
लोगों के बलबूते से अकेला जूझ सकता हूँ।
और अंधड़, काली पत्तियों को
विगत रात आकाश में बँधी नावों को निर्बंध कर घुमाता है।

तुम यहाँ हो, क्यों नहीं चली गईं।
मुझे आखरी चीख का जवाब दोगी।
और तुम भयभीत होकर मेरे चक्कर लगा रही हो।
संभवतः एक अपरिचित छाया तुम्हारी आँखों में समायी है।

अब भी तुम तिनपतिया का प्यारा फूल मेरे लिए लाती हो,
और उसकी गंध से तुम्हारे वक्ष महक उठते हैं।
मैं तुम्हें प्यार करता हूँ जबकि उदास हवा तितलियों को मारती बहाती है,
और मेरा सौभाग्य आलू बुखारे की तरह तुम्हारे मुँह को काटता है।
तुम्हें मुझसा अभ्यस्त होने में कितनी पीड़ा उठानी पड़ी।
मेरी अकेली बर्बर आत्मा मेरे नाम को सारे अभिनयों तक भेजती है।
कितनी ही बार सुबह के दमकते तारे ने हमारी आँखों को चूमते पाया है।
और हमारी समझ के बाहर धूसर प्रकाश घूमते पंखों में शान्त है।

मेरे शब्द, तुम्हें सहलाते बरसे।
तुम्हारी उज्ज्वल अद्वितीय देह को मैंने बहुत प्यार किया।
और तब तक विश्वास नहीं करूँगा जब तक कि तुम
समष्टि में एकाकार न हो जाओ।
जो बर्ताव वसंत चेरी के पेड़ों से करता है
वैसा ही मैं तुम्हारे साथ करूँगा।
मैं तुम्हारे लिए पहाड़ों से काली बादाम, सुखदायी घंटीनुमा फूल,
और गांवों के भरपूर चुम्बन लाऊँगा।

जननायक की पढ़ाई-लिखाई

एक छरहरा तीर था लाउटारो।
हमारे पिता विनम्र और अथाह थे।
उसके प्रारम्भिक वर्ष खामोशी के थे।
उसकी भर-जवानी गन्तव्य की आँधी थी।
उसने लम्बे बल्लम की तरह अपने को बनाया।
वह प्रपातों में अभ्यस्त हुआ।
वह कँटोली पाठशाला में दाखिल हुआ।
लामाओं पर उसने निबंध लिखे।
वह बर्फ़ीली मांदों में रहा।
वह चीलों की आखेट में रहता था।
उसने पहाड़ो चोटियों के रहस्य खोले।
उसने आग की पंखुड़ियों को बर्फ़ दी।
उसने वासंती समय का स्तनपान किया
वह नर्क कुण्डों में दहकता था।
वह निर्दयी पक्षियों के बीच बहेलिया था।
वह अपराजेय आकांक्षाओं में तल्लीन था।
उसने रात के हमलों का सामना किया।
उसने गंधक की खिसलती चट्टानों को बर्दाश्त किया।

अकस्मात् अभिबोध को, उसने प्रकाश की गति माना।

उसने हारे थके पतझड़ को ललकारा।
वह भूमिगत बसेरों में काम करता था।
बर्फ़ीली चादरों को ओढ़कर सोता था।

उसने तीरों की भाषा सीखी ।
उसने सड़कों पर निरंकुशों का रक्तपान किया ।
उसने लहरों से खजानों को खोला ।
उसने निराश ईश्वर की तरह अपने को धोखे में रखा ।
उसने अपनी जनता की हर पीड़ा को आत्मसात किया ।
उसने बिजली से अ आ इ ई सीखे ।
उसने बिखरी राख को महकाया ।
उसने काली चमड़ी वालों को गले लगाया ।
उसने धुएँ के लच्छों का अर्थ निकाला ।
अपने को अल्पभाषी आचरण से दूर किया ।
वह जैतून की आत्मा जैसा तेल में डूबा ।
वह दृढ़ता का पारदर्शी शीशा बना ।
उसने चक्रवात होने का अभ्यास किया ।
वह अपने रक्त की शेष बूंदों तक जूझता रहा ।

तब कहीं अपनी जनता का लाडला बना ।

[अशोक बाई, पिपरिया, म० प्र०]

चित्रांकन : सुरजीत

लोक संस्कृति

लाहुल का सामूहिक पुत्रोत्सव : गोची

□ डा० डी० डी० शर्मा

समुद्र तल से 13,050 फुट ऊंचे हिमद्वार रोहतांग के उस पार मनाली-लेह मार्ग पर चन्द्रा एवं भागा नदियों के तटों पर बिखरे हुए लाहुल प्रदेश को हिमालय की विस्मय भूमि के नाम से जाना जाता है। चारों ओर गगनचुम्बी हिमाच्छादित पर्वत शृंखलाओं से परिवेष्टित इस प्रदेश में प्रवेश का एक मात्र द्वार रोहतांग, वर्ष में लगभग 6 महीने के लिए सामान्य यातायात के लिए बिल्कुल बन्द रहता है। भारी मात्रा में हिमपात के कारण समस्त क्षेत्र हिम की 9-10 फुट मोटी चादर से ढक जाता है और वहां का तापमान जमाव बिन्दु से 15-20 डिग्री नीचे आ जाता है। किन्तु इस भारी हिमपात एवं भयंकर शीत के बावजूद भी वहां के सामाजिक एवं धार्मिक जीवन के क्रिया-कलापों में अवरोध नहीं आता वरन् यही वह काल होता है जबकि वहां पर सभी महत्त्वपूर्ण धार्मिक कृत्यों एवं सामाजिक उत्सवों का आयोजन किया जाता है। वस्तुत: शीतकाल की कठोरता एवं निष्क्रियता को हल्का करने के लिए हिम प्रदेश का निवासी इस काल में अनेक प्रकार के उत्सवों का आयोजन किया करता है जो कि विविध प्रकार के तथा विविध कालावधि के हुआ करते हैं। सामूहिक पुत्रोत्सव का पर्व 'गोची' भी एक ऐसा ही अत्याकर्षक, रंगीन एवं मनोरंजक उत्सव है। गोची का उत्सव मुख्य रूप से उपरिलाहुल अर्थात् भागा घाटी के बौद्धों द्वारा मनाया जाता है। इसका मुख्य केन्द्र इस प्रदेश का शासकीय केन्द्र केलंग होता है। यह लगभग जनवरी-फरवरी में हालडा से 20-25 दिन बाद शुक्ल पक्ष में किसी भी सोमवार या मंगलवार को मनाया जाता है। जिसका निर्णय स्थानीय वृद्धजनों के द्वारा किया जाता है। इसका संबंध पुत्र जन्म, विशेष कर ज्येष्ठ पुत्र जन्म के साथ है। मूलत: यह एक पारम्परिक जन-जातीय उत्सव है जिसमें कि बौद्ध धर्म के पुराहितों, लामाओं, का किसी प्रकार का योगदान नहीं होता है। इसमें मुख्य रूप से ग्राम देवता (केलंग) की पूजा आराधना की जाती है और उसका पुरोहित भी वंश परम्परागत होता है जो कि 'लेन्छेन्पा' जाति से होता है। बताया जाता है कि पहले केलंग देवता का पुजारी 'यरों' घर से होता था। किन्तु अब इसके स्थान पर 'जागोस्पा यास्' हो गया है क्योंकि 'यरों' की कोई सन्तान नहीं थी। अन्तत: 'यास' उसका उत्तराधिकारी हो गया।

केलंग देवता के इस पुजारी को 'लब्दग्पा' (देवपति) कहा जाता है और उसका एक सहायक होता है जिसे कि 'लबुग्पा' कहा जाता है। ये लोग गोची की पूर्व सन्ध्या में यरोङ् (एक

घर) में पूजा करते हैं। ये लोग सिर पर 'चुती' (मांग के बीचोबीच चार अंगुल बालों की बिल्कुल सफाई की हुई होती है।) करते हैं तथा ऊपर से टोपी तथा काली चादर धारण करते हैं। किन्तु इस बात का विशेष ध्यान रखा जाता है कि गोची की पूजा आरम्भ होने से उसकी समाप्ति तक इनके सिर से टोपी अलग न हो। उस दिन इनके साथ गांव के कुछ लोग भी वहीं पर रहते हैं और वहीं खाते-पीते हैं। गोची का जलूस यहीं से प्रारम्भ होता है तथा जो लोग गरीबी या अन्य किसी कारण से 'युगोची' न मना कर 'कमगोची' मनाते हैं वे लोग भी उसे यहीं पर मनाते हैं।

थार्स : गोची का पर्व तीन दिन तक मनाया जाता है। प्रथम दिन को 'थार्स' कहा जाता है। थार्स का अर्थ है 'छूट या मुक्ति'। इसका सम्बन्ध है हालडा के बाद के प्रतिबन्धों से मुक्ति अर्थात् हालडा के बाद नाचना, गाना, बाजे बजाना आदि कई कृत्यों पर प्रतिबन्ध होता है और इस दिन से लोगों को इन प्रतिबन्धों से मुक्ति मिल जाती है और उन्हें हर प्रकार से नाचने गाने और बजाने की पूरी छूट हो जाती है। सोमवार को थार्स तथा मंगलवार को लक्ष्यबेध (गोची पर्व का ही एक अंश) शुभ माना जाता है। इस दिन लोहार अपने ढोल लेकर थार्स वाले घर की छत पर जाते हैं। इसके बाद वहां पर ढोल बजा कर ग्राम देवता की पूजा की जाती है। ढोल की धुन को 'छोचुम राक' (पूजा की धुन) कहा जाता है, जो कि गोची के पर्व की शुरुआत की सूचक होती है।

इस अवसर पर गांव के सभी लोग मक्खन और सत्तू लेकर देवता की पूजा के लिए वहां पहुंचते हैं। गोची परिवारों के लोग विशेष रूप से छङ्, सत्तू, मक्खन तथा धूप के लिए देवदारु की हरी पत्तियां लेकर जाते हैं। पुरोहित उस सारी सामग्री को अलग-अलग एकत्र करके सत्तू का एक पिण्ड बनाता है जिसे ब्रंग्यस कहा जाता है। मक्खन को एकत्र करके एक भेड़ की आकृति का एक पुद्गल बनाता है तथा उसे स्तूपाकार सत्तू के ऊपर रखता है और इन सबको छङ् के साथ देवता की भेंट करता है। देवदारु की पत्तियों की धूप जलाई जाती है तथा पूजा के समय लोहार खूब ढोल बजाते हैं। इसके उपरान्त सब लोग प्रसाद लेकर अपने घरों को चले जाते हैं। इसी दिन मध्याह्नोत्तर में गोची परिवार के लोग पुरोहित को आमंत्रित करने के लिए जाते हैं तथा साथ में छङ् ले जाते हैं। यदि पहला बच्चा है या लड़कियों के बाद लड़का हुआ हो तो लड़के की मां इस दिन के लिए विशेष रूप से विशिष्ट मदिरा बनाकर रखती है जिसे 'आमेई छङ्' (मां की मदिरा) कहा जाता है। पुरोहित निमंत्रण को स्वीकार करता है तथा गोमूत्र युक्त जल से स्नान करके अपने पारम्परिक वस्त्र धारण करके तथा सिर पर गोल टोपी पहन कर, कन्धे पर एक काली चादर डाल कर गोची वाले घरों में उनकी भेंट को स्वीकार करने के लिए चलता है उसके साथ ही लबुग्पा भी जाता है। वे प्रत्येक गोची वाले घर में जाते हैं तथा कुछ पारम्परिक गीत गाते हैं और उस घर के लोग उन्हें पीने को छङ् देते हैं तथा उनकी टोपियों पर सुखा कर रखे हुए फूल लगाते हैं। इस बात का विशेष ध्यान रखा जाता है कि उनके सिर से टोपी अलग न होने पाये। ऐसा होने पर उसे अशुभ समझा जाता है और आशंका व्यक्त की जाती है कि जिस घर में जाने के बाद ऐसा हुआ है वह बच्चा जीवित नहीं रहेगा। उन लोगों को दूसरे दिन प्रात: काल तक सभी घरों का निमंत्रण पूरा करना होता है। अत: कभी-कभी सारी रात एक घर से दूसरे घर जाते रहते हैं सिद्धान्तत: इन पुरोहितों को एक घर का निमंत्रण स्वीकार कर लेने के बाद प्रत्येक बार घर में आकर स्नान करना चाहिए पर इस

शीतकाल में ऐसा करना सम्भव नहीं। अतः वे प्रतिबार घर आकर हाथ-मुंह धो लेते हैं। इनके अतिरिक्त लोहार लोग भी प्रत्येक गोची परिवार में जाते हैं तथा साथ में भेंट के लिए पीतल के छोटे-छोटे तीरकमान ले जाते हैं। उन्हें भी खूब छङ् पिलाई जाती है।

थार्स की रात को निचले केलंग वाले पुरुष और बच्चे एक जुलूस के साथ एक पीपा छङ् लेकर ग्राम देवता की पूजा करने के लिए ऊपर केलंग में आते हैं। उनके मार्ग में एक घर पड़ता है जिसका नाम 'यक्थोपा' है। इसके पास आकर उन्हें रास्ता छोड़कर उस घर के आगे से गुज़रना होता है। घर के पास आते ही जुलूस रुक जाता है और घर वाले ऊपर से देवदारु की दो मोटी लम्बी लकड़ियां 'ते ते आपे फुशिङ्' (दादा-दादी की लकड़ी) कहकर नीचे फेंक देते हैं। इनमें अपा वाली लकड़ी तो पतली होती है किन्तु 'ते ते' वाली मोटी और मजबूत। कभी तो उसे और मजबूत करने के लिए आग में पका कर रखा जाता है। जुलूस में आये हुए लोगों को इन दोनों ही लकड़ियों को केवल शारीरिक बल से ही बीच में तोड़ कर दो टुकड़े करने होते हैं। यह एक प्रकार का उनका शक्ति परीक्षण होता है। न तोड़ सकने पर उनकी शक्ति हीनता प्रकट होती है और वे लोग उसे अपने लिए अपमानजनक समझते हैं। कभी-कभी इस बात को लेकर झगड़ा भी हो जाता है।

इसके बाद इधर से ये लोग तथा उधर से ऊपर केलंग वाले अपनी-अपनी पूजा की सामग्री लेकर उस ढलान पर मिलते हैं जो कि आजकल पोस्ट आफिस से डाक बंगले की ओर आने पर पड़ती है। यहां पर दोनों ही देवता को अपनी-अपनी भेंट अर्पित करते हैं। पूजा के तुरन्त बाद ही किसी एक दल के लोग दूसरे दल में से किसी ऐसे लड़के को पकड़ कर अपनी ओर खींचकर ले जाते हैं जिसके कि माता-पिता जीवित हों। इसे पारिभाषिक शब्दावली में गोची बामा (गोची की बहू) कहा जाता है। यदि इसके पीछे किसी झगड़े की भावना होती है तो उसे छोड़ते नहीं और उसी को लेकर दो दलों में झगड़ा हो जाता है अन्यथा प्रतिरोध का दिखावा करके उसे छोड़ देते हैं।

इसके बाद वार्षिक बारी के अनुसार पहले से ही निर्धारित किसी एक घर में जाते हैं जहां पर भी छङ् से उनकी सेवा की जाती है। वहां बैठ कर छङ् पीते हुए दोनों दलों के बीच 'ग्रेगस' गीतों की प्रतियोगिता होती है। कभी-कभी इसमें भी परस्पर कलह हो उठने की सम्भावना होती है। इस प्रतियोगिता में जब कोई दल हारने लगता है तो वह 'ग्रेगस' गीत की अन्तिम पक्ति को गा देता है। उसके गाते ही दूसरे दल को अपनी छङ् का प्याला तुरन्त खाली करके चल देना होता है। कभी-कभी दूसरे दल के लोगों को तंग करने के लिए लोग चूल्हे में देबदारु की खूब सारी हरी पत्तियां डाल देते हैं जिससे घर में इतना धुंआ हो जाता है कि बैठना कठिन हो जाता है और लोग तंग आकर उठकर चल देते हैं।

अगले दिन अर्थात् गोची के दिन प्रातःकाल से ही इस उत्सव के लिए गोची वाले घरों में विशेष आयोजन प्रारम्भ किए जाने लगते हैं। विशिष्ट भोजन व पान की तैयारी के अतिरिक्त गोची के मेले के लिए खुलचि, हालडा, कल्चुर, ब्रंग्यस या फोकिन आदि की तैयारियां भी की जाने लगती हैं। घर पर आने वाले इष्ट मित्रों का भोजन-पान से आदर सत्कार किया जाता है और लोग खा-पीकर जुलूस के रूप में केलंग देवता के स्थल की ओर चलते हैं जहां पर कि सामूहिक रूप से यह उत्सव मनाया जाता है। जुलूस में सबसे आगे ढोलची होते हैं, उनके पीछे एक लड़का, जिसके माता-पिता जीवित हों, खुलचि को उठाकर चलता है जिसे खुलचिया कहा

जाता है। खुलचि मेमने की खाल में भूसा भर कर तथा उसे सींकर तैयार किया जाता है। इसे फूलों से अलंकृत दो डंडों पर बांधा जाता है और खुलचिया उसे दोनों हाथों में पकड़ कर आगे-आगे चलता है।

इसके साथ ही परम्परागत वेशभूषा से अलंकृत एक व्यक्ति हाथों में देवदारु की लकड़ी के हालड़ा (मशाल) लेकर चलता है। जिसे 'हालडपा' कहा जाता है। ये मशालें हालडा के समय पर ही तैयार करके अलग रख दी जाती हैं तथा जलाने से पूर्व इन पर मक्खन लगा कर शगुन किया जाता है। इस मशाल के पीछे चलते हैं चार व्यक्ति जो कि एक लकड़ी की परात (कुण्डङ्) में सत्तू का 20 पत्थे का (पत्था = 18 छटांक) फोकिन टोटू (स्तूप) उठाकर चलते हैं। इसके चारों ओर से 'छोद्' करके इसके ऊपर वाले भाग में गड्डा करके उसमें किलो, आधा किलो मक्खन भर कर ऊपर से आटे की टोपी से ढक दिया जाता है। ये लोग 'करिपा' कहलाते हैं।

इसके साथ ही चलती है 'कलचोंर्पा' जो कि जुलूस का सबसे बड़ा आकर्षण होती है। इसके लिए किसी ऐसी विवाहित या अविवाहित युवती को चुना जाता है जो कि बहुत सुंदर हो तथा जो 'फमाछाई' हो अर्थात् जिसके माता-पिता जीवित हों। वह सुन्दरतम वस्त्राभूषणों से अलंकृत होकर मदिरा से परिपूर्ण चांदी के मदिरा पात्र (छपक्यन) को दोनों हाथों से उठा कर चलती है। इनके पीछे गोची वाले बालक की मां सज धजकर अपने नवजात शिशु को मजबूती से पीठ पर बांधे हुए साभिमान चलती है और उसके साथ ही शिशु का पिता भी बड़े गर्व के साथ चलता है। जुलूस में सभी लोग छङ् के नशे में चूर होते हैं तथा नवजात शिशु के माता-पिता के सम्बन्धों में अनेक अश्लील फब्तियां कसते हुए अश्लील चेष्टाएं करते हुए चलते हैं। उन्हें इस दिन इस बात की खुली छूट होती है। इस वातावरण में सबसे अधिक दयनीय स्थिति उस युवती की होती है जो कि 'कलचोंर' उठाकर चल रही होती है। इद्यपि उसके प्रति कोई किसी प्रकार की अशिष्टता का व्यवहार नहीं करता है किन्तु अश्लीलता की इन उन्मुक्त उक्तियों तथा चेष्टाओं के बीच उसे लज्जा से जड़ित होकर सिर झुकाये ही चलना पड़ता है। लोग परस्पर एक दूसरे पर बर्फ़ के गोले बना बनाकर भी मारते हैं। मार्ग में यदि कोई अकेला मिल जाए तो उसकी दुर्गति कर डालते हैं। सभी लोग अपने उत्तम वस्त्रों में सुसज्जित होते हैं। उनकी टोपियां रंग-बिरंगे कागजों से सजाए गए सूखे फूलों के अलंकरणों से अलंकृत होती हैं। वे लोग हेसिवारा के री लो (पूर्वांचल का स्वागत है) की धुन गाते हुए चलते हैं। कहा जाता है कि यह एक लम्बा गीत था जिसमें सभी पर्वतों का आवाह्‌न किया जाता था किन्तु अब लोग उसे भूल गए हैं, केवल इसी पंक्ति को दुहराते हैं।

सभी गोची वाले घरों से इसी रूप में सजधज कर आने वाले सभी जुलूस गोची के स्थान में एकत्र होते हैं। ऊपर केलंग वाले पोस्ट आफिस के नीचे एक खेत में तथा नीचे केलंग वाले उपायुक्त की कोठी के पास वाले निर्धारित स्थान में एकत्र होते हैं जो कि केलंग देवता का प्राचीन स्थान माना जाता है।

केलंग देवता का पुजारी (लब्दग्पा) हाथ में धनुष-बाण लिए, सिर पर फूलों से लदी हुई टोपी पहने तथा एक काली चादर ओढ़े हुए वहां पर आता है। लब्दग्पा भी उसके साथ आता है किन्तु उसके बाद वह अपने एक अन्य साथी को लेकर गायब हो जाता है। वह साथी एक गठरी में तरबंश (घोड़े की लीद) जो कि शीत के कारण जम कर ठोस रूप धारण कर लेती है,

लेकर चलता है। वे दोनों ही किसी और मार्ग से छिप कर गोची के मैदान में दूसरी ओर से पहुंचते हैं तथा लीद के गोलों से वहां पर आने वालों पर बौछार करते हैं। यदि वे जुलूस से पहले न पहुंच पाएं तो उनके आने की प्रतीक्षा की जाती है। विलम्ब होने पर लबुग्पा का अश्लील गालियों से स्वागत किया जाता है।

गोची वाले घरों से आये हुए ब्रंग्यस या फोकनों को एक स्थान पर रख दिया जाता है। तथा जलती हुई मशालों को पूजा के निर्धारित स्थान के पास ही बर्फ में गाड़ दिया जाता है। मक्खन के सात या नौ किन (जंगली बकरा) बनाये जाते हैं उन्हें एक थाली में मक्खन की टिकियों के ऊपर रखा जाता है। लबुग्पा वहां आकर छपक्यन् से छङ् और 'किन' के सींगों से नवनीत लेकर छोद (पूजा) करता है, तथा युला तेते खयेन् (सर्वज्ञ ग्राम देवता के लिए) कहकर उसे ग्राम देवता के नाम पर अर्पित करता है तथा साथ में फाफड़े की फुल्लियां तथा जौ के दाने भी चढ़ाता है। शेष बचे हुए मक्खन व फुल्लियों को प्रसाद के रूप में वितरित करता है। लबदग्पा पूजा की समाप्ति तक दूर बैठा रहता है तथा इसके बाद वह भी वहीं आ जाता है।

इस पूजा के समय "कलचुरपां बनी हुई सभी युवतियां एक पंक्ति में बैठकर नवजात शिशुओं की सुख-समृद्धि एवं दीर्घ जीवन के लिए प्रार्थना करती हैं। इसके बाद वे बारी-बारी से आकर अपने चांदी के छपक्यनों से पुरोहित को छङ् पिलाती हैं और उसके बायें हाथ पर थोड़ा-सा मक्खन भी लगाती हैं। पुरोहित मुंह पर अपने दाहिने हाथ का पुट बना कर प्रत्येक से छङ् पीता है तथा उनका धन्यवाद करता है। जिसका प्रत्युत्तर वे मुस्लिम अभिवादन के रूप में अपनी गोल हथेली को माथे की ओर ले जाकर तथा थोड़ा-सा झुका कर देती हैं, उसके बाद वहाँ उपस्थित अन्य सभी लोगों को शेष छङ् पिलाई जाती है।

इसके बाद आने वाले वर्ष में गांव में पुत्रोत्पत्ति की स्थिति के सूचक लक्ष्यवेध (तीरन्दाजी) की तैयारी की जाती है। गोची के जुलूस के साथ लाये गये खुलिचियों को बर्फ में एक कतार में गाड़ दिया जाता है तथा उन पर लक्ष्य वेध करके अपने वर्ष में सम्भावित पुत्रों की उत्पत्ति का अनुमान लगाने का प्रयत्न किया जाता है। इसके लिए गोची का पुरोहित पेट के पास अपने दोनों हाथों से धनुष-बाण को थाम कर तीन बार देवता की ओर तथा तीन बार पीछे की ओर झुककर मंत्रोच्चारण पूर्वक देवता की आराधना करता है। इसके बाद धनुष की डोरी चढ़ा कर तथा उस पर एक लकड़ी का बाण चढ़ा कर पीछे की ओर छोड़ता है जिसे 'शुक शुक श्रिम' कहा जाता है। इसके बाद धनुष की डोरी चढ़ा कर तथा उस पर एक लकड़ी का बाण चढ़ा कर पीछे की ओर छोड़ दिया जाता है। इसके बाद वह खुलचियों पर निशाने लगाता है। निशाना ठीक लगने पर उपस्थित लोग खूब हर्षोल्लास व्यक्त करते हैं क्योंकि विश्वास किया जाता है कि यह अगले वर्ष में गांव में खूब पुत्रों के उत्पन्न होने का शुभ संकेतक है। गांव के किस भाग में ये पुत्र अधिक होंगे इसका निर्णय खुलची के उच्च, मध्य या निम्न भाग में लगे निशान से लगाया जाता है। अर्थात् यदि ऊपर के भाग में निशाना लगा है तो गांव के ऊपर वाले भाग में, मध्य में लगा तो मध्य वाले भाग में तथा नीचे वाले भाग में लगा है तो नीचे वाले भाग में अधिक पुत्र होंगे, किन्तु यदि निशाना न लगे तो समझा जाता है कि अगले वर्ष "कमगोची होगी अर्थात् गांव में कोई पुत्र उत्पन्न नहीं होगा। इस सारे उत्सव के दौरान हरिजन लोग खूब ढोल बजाते रहते हैं। यदि किसी व्यक्ति के घर में पुत्र न हो और वह पुत्र की कामना करता हो तो वह लबदग्पा से एक तीर लेकर जलते हुए हालडा के पास जाकर उसमें देवदारू की पत्तियों

की धूप देता है तथा उस तीर को धूप सूंघाता है और फिर लाकर उसे लबदग्पा को ही देकर, उसे खुलची पर मारने का अनुरोध करता है। वह (लबदग्पा) उसके निमित्त उसके लक्ष्यवेध करता है। यदि उसका लक्ष्य खुलची के उसी भाग पर लगता है जिस भाग में कि गांव के वह व्यक्ति रहता है तो विश्वास किया जाता है कि अगले वर्ष उस व्यक्ति के घर में अवश्य ही पुत्र उत्पन्न होगा, अन्यथा नहीं।

इसके उपरान्त लबुग्पा 'केन' (टीटू) का थोड़ा सा अंश लेकर उसे लकड़ी के एक सिरे पर लगाता है और उसे लेकर आगे-आगे चलता है। उसके पीछे लबदग्पा, करिपा, हालडा या खुलचिपा तथा अन्य लोग चलते हैं और हालडा की तीन परिक्रमाएं करते हैं। लोहार लोग अपने ढोलों पर पूजा की धुनें बजाते रहते हैं। इस परिक्रमा के बाद ढोल की वह धुन बदल जाती है जो कि हालडा के पर्व से आज तक बजायी जाती रहती है। अब इस पूजा के उपरान्त कोई भी धुन बजायी जा सकती है। इस बीच गीत भी केवल "ग्रेक्स" गीत ही गाये जाते हैं और कोई नहीं।

इसके बाद मेला देखने के लिए आए हुए लोग अपने घरों को चले जाते हैं तथा गोची के घरों में आये हुए इष्ट-मित्र लोग उनके घर जाते हैं जहां पर कि उनका शाम को भोजन तथा छङ् से आतिथ्य किया जाता है। क्योंकि गोची की भगदड़ में पुरोहित का भली भांति आतिथ्य नहीं हो पाता है इसलिए उसे गोची के दो-तीन दिन बाद पुनः आमंत्रित किया जाता है तथा शांतिपूर्वक भरपेट भोजन कराया जाता है और जी भरकर छङ् पिलाई जाती है।

कमगोची : स्थानीय सामाजिक विधान के अनुसार गोची बनाये बिना कोई भी लड़का अपनी पैतृक सम्पत्ति का वैध उत्तराधिकारी नहीं बन सकता है, अत: सभी को गोची देना आवश्यक है। यदि अवैध सन्तान की भी गोची मना ली जाती है और गांव वाले उसमें भाग ले लेते हैं तो वह अपने पिता की सम्पत्ति का उत्तराधिकारी बन जाता है। विवाद होने पर गांव के लोग साक्ष्य देते हैं कि हमने इसकी गोची खाई है अतः यह पैतृक सम्पत्ति का अधिकारी है।

युगोची मनाने में काफी व्यय होता है अतः जो लोग इतना नहीं कर सकते या जो लोग गोची के अवसर पर लाहुल में नहीं होते और उनका पहला लड़का कहीं बाहर पैदा होता है तो उन्हें लाहुल आने पर गोची देनी पड़ती है अन्यथा उस बालक को सामाजिक मान्यता नहीं मिल सकती। ऐसी स्थिति में गोची के पर्व का वह सारा आयोजन तो नहीं हो सकता, अतः लोग सामर्थ्य और सुविधा के अनुसार गांव वालों को प्रीति भोज दे देते हैं। इसे 'कमगोची' कहा जाता है। इसके अतिरिक्त यदि किसी वर्ष गांव में कोई लड़का पैदा न हुआ हो तो उस वर्ष की गोची को भी 'कमगोची' कहा जाता है।

इसके अतिरिक्त आर्थिक कठिनाईयों के कारण लोहार लोग भी गोची नहीं मना पाते हैं। अतः वे लोग गांव वालों को शराब की एक बोतल तथा भेड़ की एक अगली टांग (लशा-लगूशा) तथा एक रुपया देकर ही कमगोची मना लेते हैं। यदि लाहुल से बाहर के लोगों के घर भी उस बीच लड़का हुआ हो तो उनसे भी कमगोची ले ली जाती है।

[संस्कृत विभाग, पंजाब विश्वविद्यालय, चंडीगढ़-14]

सिरमौर के शिरगुल व बिजट देवता : एक पुरातात्विक अध्ययन

☐ रमेश चंद्र

कांस्य मोहरा शिरगुल देवता—11 वीं शती

हिमाचल प्रदेश के जिला सिरमौर में शिरगुल व बिजट देवता के पूजन का प्रचलन सर्वाधिक है। अधिकांश मन्दिर इन देवताओं के नाम से ही दृष्टिगोचर होते हैं। शिरगुल व बिजट देवता सिरमौर वासियों के लिए प्रमुख आराध्य देव हैं। इन देवताओं का पूजन इस क्षेत्र में कब और कैसे आरम्भ हुआ निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता। चूड़धार की पहाड़ियों, पर शिरगुल देवता का एक प्राचीन मन्दिर आज भी विद्यमान है। चूड़धार हिमाचल के प्रमुख पर्वतों में से एक हैं जो सिरमौर के उत्तर पश्चिम और दक्षिण की ओर फैला हुआ है।

शिरगुल सम्भवत: 'श्रीगुरू' शब्द से बना है। एक प्राचीन दन्त कथा के अनुसार श्रीगुरू नामक महात्मा ने चूड़धार की ऊंची बर्फीली पहाड़ियों पर भगवान शिव की घोर तपस्या की व वरदान स्वरूप इतनी शक्ति प्राप्त कर ली कि वह इच्छित कार्य करने में समर्थ हो गये।

समय बीतने पर लोगों ने महात्मा श्री गुरू के लिए धार पर एक मन्दिर का निर्माण करवाया और 'श्रीगुरू' एक लोक-देवता के रूप में पूजे जाने लगे। 'श्रीगुरू' को ही बाद में अपभ्रंश रूप में शिरगुल कहा जाने लगा व आज तक एक आराध्य देवता के रूप में पूजन होता आ रहा है। वैसे चूड़धार स्थित मन्दिर में शिवलिंग कीस्थापना है और पत्थर के पूजा-पात्र भी विद्यमान हैं। संभवत: ये 'श्रीगुरु' के समय के ही हों। इसलिए शिरगुल शैव परम्परा का ही देवता है।

बिजट देवता को भी सिरमौर में उसी प्रकार पूजा जाता है जिस प्रकार शिरगुल देवता को। एक किंवदन्ती के अनुसार जब देव स्थान चूड़धार पर अज्ञासुर दानव ने उपद्रव मचाना शुरू किया तो वहां का देवता शिरगुल आकाश से बिजली के रूप में उस दानव पर टूट पड़ा। इस बिजली की चमक के साथ चूड़ चोटी के दामन में स्थित सराहां के स्थान पर एक 'मोहरा' गिरा। लोगों ने उठा कर उसे पूजना आरम्भ कर दिया, और उसके लिए वहां एक मन्दिर बनाया। इस देव मुखौटे को उन्होंने बिजट नाम दिया। इसके उपरान्त शिरगुल व बिजट देवता के मन्दिर हर गांवों में बनाये गये व उन मन्दिरों के साथ लोगों को अपने आराध्य देव शिरगुल व बिजट देवता के चिह्न की आवश्यकता अनुभव हुई। आरम्भ में मन्दिर की प्रबन्ध

व्यवस्था सुव्यवस्थित नहीं थी अथवा मन्दिरों की आय इतनी नहीं थी कि मन्दिरों में बड़ी-बड़ी मूर्तियों को प्रतिष्ठित कर सकें। लोगों ने धातु के मोहरे बनाकर मन्दिरों में स्थापित करके पूजन आरम्भ कर दिया। समय बीतने पर भी वह प्रथा जारी रही और मोहरे मन्दिरों को भेंट भी किये जाने लगे। इस प्रकार हम सिरमौर के अधिकांश मन्दिरों में इन देवताओं को मुखौटों या मोहरों के रूप में देखते हैं। यह मोहरे पीतल, चांदी और कई मन्दिरों में सोने के बने भी पाये जाते हैं।

इन मोहरों को स्थानीय ठठेरे या सुनार बनाया करते थे। यह मोहरे देवता या देवी के मुख या धड़ (Bust) को ही प्रदर्शित करते हैं। मुख के सभी अंग जैसे नाक, आंख, कान भली प्रकार उभारे होते हैं। इसके अतिरिक्त इन पर उकरित आभूषण जैसे हार, मुकुट व रत्नकुन्डल (कानों का आभूषण) इन्हें कला के उत्कृष्ट व सजीव नमूने बनाने में योगदान देते हैं। पीछे की ओर यह खाली (खोखले) होते हैं, और इनके निर्माण की विधि को Lost wax Process(लोस्ट वैक्स प्रोसेस) कहते हैं। इस विधि द्वारा शिल्पी सर्वप्रथम अभीष्ट देवी-देवता की मोम (मधुचिष्टा) की प्रतिमा तैयार करता है। मोम की प्रतिमा में सुधार की प्रर्याप्त सुविधा रहती है। मोम की मूर्ति तैयार होने के उपरान्त शिल्पी उस पर मिट्टी की पतली परतें चढ़ाता है। तत्पश्चात् उस कलबूत में दो छिद्रों का प्रावधान रखा जाता है, एक धातु के प्रवेश हेतु दूसरा मोम के निकास हेतु। अतः कलबूत में धातु परिवेशोपरान्त मूर्ति का निर्माण हो जाता है। कलबूत को तोड़ने के पश्चात् निर्मित मूर्ति को शिल्पी हथौड़ी छैणीं द्वारा अन्तिम रूप प्रदान करता है। इस प्रकार एक धातु मूर्ति का सृजन होता है।

इन मोहरों के सम्बन्ध में एक बात जो ध्यान देने योग्य है वह यह है कि जिस प्रकार अन्य मोहरे या मुखौटे मेलों या त्यौहारों के अवसर पर नाचने-गाने या नाटक करने के अवसर पर मुख पर लगाये जाते हैं। इन देव-मुहरों का ध्येय इस प्रयोग के लिए नहीं रहा होगा। यानी इन मोहरों का प्रयोग (फेसियल मास्क) कदापि नहीं रहा होगा। बहुत से मोहरे 5 सैं० मी० से लेकर 20 सैं० मी० तक के हैं, और किसी भी मोहरे पर आंख या नाक के स्थान पर छिद्र नहीं बनाये गये हैं, जिससे इन्हें धारण करने वाला कुछ देख सके या नाक के स्थान पर बनाये गये छिद्र से सांस ले सके। अन्य मुखौटों या मोहरों पर जो नाच-गाने के अवसर पर प्रयोग होते हैं इस प्रकार के छिद्र बनाये गये होते हैं।

इन मोहरों को अर्ध प्रतिमा की संज्ञा भी दी जा सकती है, क्योंकि इनमें देवता या देवी के सिर कंधे व सीने तक का भाग बनाया होता है, परन्तु साधारणतया इनका नाम मोहरे (मास्क) ही रखा गया है।

भाषा एवं संस्कृति विभाग (हि० प्र०) द्वारा करवाये जा रहे सिरमौर जिला के पुरातात्विक सर्वेक्षण के दौरान सिरमौर में शिल्प व काल की दृष्टि से कई महत्त्वपूर्ण मोहरे प्रकाश में आये हैं। वैसे तो हर गांव, हर मन्दिर में देवता मोहरे के रूप में ही हैं परन्तु कुछ मन्दिर ऐसे हैं जिनमें मोहरों की संख्या अधिक है व काल व कला की दृष्टि से पुरातन भी है, जो इस विषय पर शोध कार्य करने वालों के लिए उपयोगी सिद्ध हो सकते हैं।

सिरमौर जिला की राजगढ़ तहसील के ब्राईला गांव में 'पेन्ट रूफ' शैली का बिजट देवता का तीन मंजिला मन्दिर है उसमें 24 मोहरे पूजन हेतु रखे गये हैं। गांव 'शाया' तहसील राजगढ़ जिला सिरमौर के एक प्राचीन मन्दिर में भी मोहरों का संग्रह उल्लेखनीय है

इस मन्दिर में कुल 16 मोहरे हैं। यह मन्दिर निर्माण कला की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है। मन्दिर के स्तम्भों व दरवाजों पर विभिन्न देवी-देवताओं की आकृतियां उकरित हैं। एक विशेष व महत्त्वपूर्ण बात जो यहां प्रकाश में आई है। इस मन्दिर की दायीं दीवार पर एक प्रस्तर की ईंट पर 'ब्राह्मी लिपि' में कुछ अक्षर पाये गये हैं जिन को स्पष्ट रूप से अभी तक पढ़ा नहीं गया है। मूर्तियों, मोहरों पर या कहीं भी इस प्रकार के लेख मिलना एक महत्त्वपूर्ण घटना है। इस प्रकार के लेख इतिहास निर्माण में सहायक सिद्ध होते हैं। इन लेखों से कई ऐतिहासिक पुरुषों का पता चलता है या कई बार इनको बनाने वाले शिल्पकार का पता चलता है। गांव नौणी तहसील नाहन, (जमटा राजस्व वृत)में शिरगुल देवता के प्राचीन मन्दिर में महत्त्वपूर्ण धातु के मोहरे पूजन हेतु रखे गये हैं। शिरगुल देवता का मन्दिर गांव काथला तहसील नाहन में भी अपने मोहरों के भंडार के लिए महत्त्वपूर्ण है।

गांव अजरौली तहसील शिलाई (पनोग राजस्व वृत) के शिव (शिरगुल) मन्दिर में रखे गये मोहरे भी अपने आप में कला, काल व आकार की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण हैं। इस मन्दिर में 22 मोहरे हैं।

शिरगुल देवता मन्दिर डिटगढ़, तहसील शिलाई में मोहरों का संग्रह शिल्प व काल की दृष्टि से, सिरमौर जिला में अब तक मिले मन्दिरों में सबसे महत्त्वपूर्ण माना जा सकता है। इन मोहरों में दो छाया-चित्र इस लेख के साथ दिये जा रहे हैं। यह मोहरा 11वीं-12वीं शताब्दी का प्रतीत होता है। इसमें 'उत्तर शास्त्रीय श्रेणी' की कुछ विशेषताएं पाई जाती हैं :

(1) तीन आंखों वाला अण्डाकार चेहरा, एक आंख माथे पर व ठोड़ी कुछ उभरी हुई।

(2) मोहरों पर बने झुमके बिल्कुल गोल हैं व ऐसा प्रतीत होता है जैसे मोतियों से जड़ित हैं।

(3) कई मोहरे जो विशेष कर शिव के हैं मुकुट पर 'अर्ध चन्द्र' (⌣) का चिह्न अवश्य देखने को मिलता है या मुकुट के ऊपर छोटा-सा गोल जूड़े (जटा-जूट) के आकार का चिह्न देखने को मिलता है।

(4) बादाम के आकार की उभरी हुई पुतलियां या नेत्र और माथे पर कुछ उभार हम इस काल में बने मोहरों पर देखते हैं।

(5) इस समय बने मोहरों का औसतन आकार 25 सैं० मी० से 30 सैं० मी० तक का है। उपरोक्त सभी विशेषताएं या चिह्न डिटवाड़ के शिरगुल देवता के मन्दिर में पूजित कुछ मोहरों में विद्यमान है, जिनसे डिटवाड़ के मोहरों का काल निर्धारित या राय कायम करने में सहायता मिलती है।

इन मोहरों पर सर्प आकृति सम्भवतः शैव, शिवमत से सम्बन्धित है। अतः इन मोहरों पर बने सर्प व 'अर्धचन्द्र' इनका शिव के साथ सम्बन्ध स्थापित करते हैं। वैसे भी सिरमौर में शिव की प्रत्यक्ष पूजा नहीं होती शिरगुल देवता के रूप में ही शिव को माना जाता है।

सिरमौर जिला के मन्दिरों में देवी-मोहरे भी मिलते हैं। शिवालिक या इस के पहाड़ी क्षेत्र में शक्ति उपासना का भी प्रचलन रहा है विशेष कर जब मैदानी इलाकों में मुसलमान आक्रमणकारियों के हमले निरन्तर बढ़ते गये तो मूर्तिकला की परम्परा या कलाकारों ने शिवालिक की पहाड़ियों में शरण ली और शिवालिक के लोकशिल्प (फोक आर्ट) से प्रेरित होकर उस समय भी मोहरे बनाने की कला का इस क्षेत्र में प्रभुत्व कायम हुआ। परन्तु उल्लेखनीय यह है कि इसमें पहाड़ी शिल्प के गुण विद्यमान रहे।

देव (देवता) मोहरों व देवी-मोहरों की पहचान भी कठिन नहीं है। देवी मोहरों के वक्ष-स्थल कुछ उभरे हुए हैं जबकि देव (देवता) के मोहरों की छाती पर छोटे कम उभार के निशान हैं—जिससे देवी व देवता के मोहरों में अन्तर स्पष्ट हो जाता है।

समय के साथ मोहरों की बनावट में भी अन्तर आता गया। अधिकांश मोहरों पर 14वीं शताब्दी तक एक सर्प की आकृति मिलती है। जबकि 15वीं शताब्दी के उपरान्त मोहरों पर दो सर्प या सर्प के दो मुख दिखाये गये हैं। 14वीं शताब्दी में बने मोहरों के चेहरे की गोलाई कुछ तंग या कम होने लगती है और ठोडी कुछ नुकीली, आंखें मत्स्याकार और अधिक लम्बी बनाई गई हैं जो दो किनारों के बीच घिरी प्रतीत होती है।

15वीं शताब्दी के आरम्भ में बने चेहरों में भी कुछ गोलाई है, जो गोलाई हम 11वीं-12वीं शताब्दी में बने मोहरों में देखते हैं, परन्तु वह सौम्यता, कोमलता और गोलाई इनमें देखने को नहीं मिलती। इन मोहरों के चेहरों पर भारीपन अधिक है।

जो मोहरे 18वीं, 19वीं शताब्दी में या उसके पश्चात् बने वे शिल्प की दृष्टि से इतने आकर्षक नहीं हैं। चेहरे अधिक लम्बे बने हैं या अधिक गोलाई या चेहरे पर भारीपन लिए हुए हैं। कई मोहरों पर सर्प आकृति नहीं मिलती है व देव-मोहरों पर मूछें दिखाई गई हैं। माथा अधिक चौड़ा नहीं है। कुछ मोहरों पर हम अंग्रेज़ी के वी (V) शब्द जैसी मुस्कान देखते हैं। इस मुस्कान से ऐसा प्रतीत होता है कि जैसे शिरगुल देवता प्रसन्न मुद्रा में है। अपने श्रद्धालुओं पर प्रसन्न हैं।

[**बी० ब्लाक-9, सेट नं० 50 फागली शिमला-110004**]

कांस्य मोहरा शिरगुल देवता—12वीं शती

हिमाचल के प्राचीन प्रजातंत्र

☐ मियां गोवर्धन सिंह

जनपदों का आविर्भाव वैदिक युग के अन्त में हुआ जिसके द्वारा सही मायनों में भारतीय संस्कृति का विकास हुआ । जन अपने को किसी पूर्वज विशेष की सन्तान मानते थे। प्रत्येक जन में अनेक कुटुम्ब होते थे । अत: एक ही जाति पुरुष से उत्पन्न विभिन्न कुटुम्बों के समुदाय का नाम जन था । शुरू-शुरू में इन जनों का कोई निश्चित तथा स्थायी स्थान न होता था और एक स्थान से दूसरे स्थान को घूमा करते थे । ऋग्वेद में जनों का उल्लेख आता है, परन्तु जनपदों (स्थायी राज्यों) का नहीं । इस प्रकार वैदिक संहिताओं में भी जनपदों का कोई उल्लेख नहीं मिलता । लगता है कि उस समय तक जनों ने अपने स्थायी राज्य स्थापित न किये होंगे । ब्राह्मण ग्रन्थों में भी कहीं-कहीं जनपद का उल्लेख मिलता है । इस दार्शनिक काल को राजनैतिक दृष्टि से जनपद काल कहा जाये, तो अनुचित न होगा । इसी काल में जनपदों का उदय हुआ, जिनकी स्थापना शनैः शनैः सारे देश में हुई । ये जनपद राजनैतिक, सांस्कृतिक और आर्थिक अर्थात् हर दृष्टिकोण से इकाई के रूप में खड़े हुए । आरम्भ में जनपदों में किसी एक वर्ग विशेष के मनुष्य ही रहते थे । अतः उनका जीवन एक जातीय, राजनैतिक एवं सांस्कृतिक परम्परा के अनुकूल संगठित था । इन जनपदों में शान्ति, सुव्यवस्था और धर्म नीति की स्थापना राजतन्त्र से कहीं अधिक विकसित और सुदृढ़ बुनियादों पर हुई । जनपदों में अराजकता का तो कोई प्रश्न था ही नहीं । उन लोगों का उस भूमि[1] के साथ जिस पर वे वास करते थे, एक प्रकार का मोह तथा प्रगाढ़ मातृ भाव था । प्रत्येक जनपद की भूमि वहां के निवासियों की मातृभूमि बन गई । भाषा, धर्म, अर्थ, व्यवस्था और संस्कृति सभी दृष्टियों से जनपदों की बुनियाद इतनी पक्की थी कि सहस्रों वर्ष तक भी उनके नैतिक ढांचे जैसे के तैसे अडिग तथा अटल बने रहे । कालान्तर में इन जनपदों में अन्य वर्गों और जातियों के लोग भी आकर बसने लगे । इससे सांस्कृतिक आदान-प्रदान तो हुआ लेकिन फिर भी राज-सत्ता बहुत समय तक एक मात्र आदि जन के प्रतिनिधियों के हाथ में रही ।

जनपद दो प्रकार के होते थे, एक-राज और दूसरा गणाधीन । अधिकांश जनपदों की सत्ता क्षत्रियों के हाथों में थी । एक-राज जनपद में क्षत्रिय का नाम तथा निवासियों का नाम भी जनपद के ही नाम पर होता था । जनपदों में और जातियों तथा वर्णों के लोग भी रहते थे परन्तु राज सत्ता तो क्षत्रियों के हाथ में रहती थी । एक-राज जनपदों में काम्बोज, गान्धार, मद्र

आदि थे। गणधीन संघ राज्य इस काल में एक-राज जनपदों से अधिक थे। एक-राज जनपद में जहां प्रभु-सत्ता एक व्यक्ति में केन्द्रित रहती थी वहां गणाधीन संघ में वह सम्पूर्ण गण में निहित थी। साधारणतया देश के उदीच्य भूभाग में संघाधीन राज्य अधिक थे।[2] पहाड़ों के इन छोटे-छोटे जनपदों में तो जनसाधारण का ज़ोर रहा परन्तु मैदानी राज्य में राजा स्वेच्छाचारी बन गये। तब राजा का राज्य बड़ा सुखदायी समझा जाने लगा। जनपदों की राजनीतिक सीमायें बदलती रही थीं। किन्तु उनके सांस्कृतिक जीवन का प्रवाह न टूटता था। एक जनपद से दूसरे जनपद को अलग करने वाली प्राकृतिक सीमायें नदी-नाले, पर्वत शिखर आदि हुआ करते थे। जो जनपद विस्तार में बड़े थे उनके कई हिस्सों के अलग-अलग नाम भी होते थे। ये जनपद एक प्रकार से छोटे-छोटे स्वतन्त्र राज्य थे। जो एक जैसे देवताओं को मानते थे और एक ही भाषा बोलते थे। इनमें परस्पर विवाह हुआ करते थे। राजनैतिक दृष्टि से ये एक दूसरे से स्वतंत्र होते थे। एक जनपद दूसरे को परास्त कर देता था, परन्तु उसे नष्ट नहीं करता था।[3]

पौराणिक काल में इन जनपदों की संख्या 175 तक पहुंच गई थी।[4] पुराणों के भुवन कोषों में मध्य, प्राच्य, उदीच्य, दक्षिणपथ, अपरान्त, विध्यपृष्ठ और पर्वत आदि सात विभागों के जनपदों का उल्लेख किया गया है। यह जनपद पाणिनि काल तक अपने पूर्ण विकास पर पहुंच गये थे। पाणिनि' का काल 5वीं सदी ई० पूर्व से पहले माना जाता है, जिसने पश्चिमी हिमालय के जनपदों का स्पष्ट रूप से उल्लेख किया है। इन जनपदों का वर्णन उसने उदीच्य नाम से किया है। यह पर्वताश्रयी जनपद अपना विशेष स्थान रखते थे। इनके दो समूह थे, एक त्रिगर्त (कांगड़ा) से दार्वाभिसार तक और दूसरा सिन्ध से कापिशी-कम्बोज तक का विस्तृत भू-भाग। त्रिगर्त से दावाभिसार तक के प्रदेश में त्रिगर्त, गब्दिका, युगन्धर, कालकूट, भरद्वाज, कुलूत और कुलिन्द आदि जनपद थे। पहाड़ी जनपदों का दूसरा लम्बा चौड़ा प्रदेश भारत के उत्तर पश्चिमी भाग में सिन्धु नदी से लेकर वाहलीक कपिशा-कम्बोज तक फैला हुआ था। राजनैतिक व्यवस्था की दृष्टि से यह पर्वतीय राज्य अधिकांश में आयुधजीवी[6] संघ शासन के मानने वाले थे।

इन जनपदों ने अपने समृद्ध काल में तांबे और चांदी की मुद्रायें चलाईं। पहले तो यह मुद्रायें चांदी में चलाई गईं परन्तु जब कुशाणों ने अपने काल में सोने के सिक्के चलाये तो इन गणराज्यों के लिए सोने के सिक्के चलाना कठिन था। उस समय विदेशों से चांदी का आना प्रायः बन्द हो गया था। इस कारण उन्होंने तांबे को ही सिक्कों की धातु के लिए प्रयोग किया। मुद्राओं का क्रय-मूल्य इतना अधिक था कि सर्व साधारण का काम चल जाता था। तांबे का सिक्का जीवन की उपयोगी वस्तुएं खरीदने के लिए पर्याप्त था।

मद्र जनपद का उल्लेख उत्तर वैदिक साहित्य में आता है। एतिरेय ब्राह्मण के अनुसार उत्तर मद्र दूर हिमालय में उत्तर कुरू का पड़ोसी देश था। मद्रों का वर्णन बृहदारण्यकोपनिषद में भी मिलता है। सम्भवत: दक्षिणी मद्र की सीमाएं स्यालकोट के आस-पास कहीं रही हों। इसे गुरू गोविन्द सिंह[7] के समय तक मद्रदेश ही कहते थे। मद्रों की राजधानी साकल (स्यालकोट) थी जो आपगा (वर्तमान अयक) नदी के किनारे स्थित है। यह नदी जम्मू की पहाड़ियों से निकल कर स्यालकोट के पास से होती हुई वर्षा ऋतु में चिनाब से मिलती है। पाणिनि के समय मद्र के दो भाग थे, पूर्व मद्र[8] और उत्तर मद्र। पूर्व मद्र के बारे में लिखा है कि यह देश वाहिका के उत्तरी भाग में साकल (स्यालकोट) के पूर्व से लेकर त्रिगर्त (कांगड़ा) तक फैला हुआ था।

उत्तर वैदिक साहित्य से पता चलता है कि मद्रों में वैद्यराजतन्त्र की व्यवस्था थी। प्राचीन ग्रंथों में वहां के लोगों को बड़ा शूरवीर बताया गया है। उपनिषदों में इन्हें क्षत्रिय लिखा है। ब्राह्मणकाल में ये विद्या तथा पाण्डित्य के लिए बहुत प्रसिद्ध थे। अभी तक इस जनपद की कोई भी मुद्रा प्राप्त नहीं हुई। समुद्रगुप्त[9] के इलाहाबाद के स्तम्भ लेख में मुद्रों का नाम आता है। मद्र जनपद कब खत्म हुआ, निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता। सम्भव है गुप्तराजाओं ने ही इन्हें अपने राज्य में मिला दिया हो।

त्रिगर्त : पाणिनि ने त्रिगर्त देश के आयुधजीवी संघों का उल्लेख किया है। रावी, व्यास और सतलुज इन तीन नदियों के बीच का त्रिगर्त[10] कहलाता था। इसका पुराना नाम जलंधरायण भी था जिसका राजन्यादिगण में उल्लेख हुआ है। त्रिगर्त का उल्लेख करते हुए आचार्य हेमचन्द ने भी लिखा है—"जालंधरास्त्रिगर्ता स्यु।" बृहतसंहिता तथा महाभारत में भी त्रिगर्त का जिक्र आया है। महाभारत के द्रोणपर्व में त्रिगर्त के राजा सुशर्मचन्द्र और उसके भ्राताओं का वर्णन है। वे सब पांच भाई थे—सुशर्म, सुरथ, सुधमी और सुबाहु। पुनः आशवमेधिक पूर्व अध्याय 74 में त्रिगर्त के राजा सूर्यवर्मा का नाम मिलता है। इसी ने अर्जुन का घोड़ा रोका था। उसके दो भाई केतुवर्मा और धृतवर्मा थे। त्रिगर्त का प्रथम राजा भूमिचन्द्र[11] था। वंशावली के अनुसार 231 वाँ राजा सुशर्मा था जिसने कौरवों के पक्ष में लड़कर महाभारत युद्ध में भाग लिया था। सभापर्व के अनुसार अन्य पर्वतीय राजाओं के साथ त्रिगर्त का राजा युधिष्ठर के राजसूय यज्ञ में उपहार लेकर आया था। मारकण्डेय तथा मतस्य पुराणों में इसे पर्वतीय प्रदेश बताया गया है। राजतरंगिणी में इसे कश्मीर के नज़दीक बताया है। पाणिनि ने त्रिगर्त नामक संघ राज्यों का उल्लेख किया है। (1) कोण्डोपरथ, (2) दाण्डकि, (3)कोष्टकि, (4) जालमनि (5) ब्रह्मगुप्त, (6) जानकि जिन्हें उसने त्रिगर्तषष्ठ कहा है।[12]

यहां के लोग वीरता के लिए प्रसिद्ध थे। त्रिगर्त ने ईसापूर्व दूसरी शताब्दी में अपनी मुद्रायें भी चलाईं जिससे पता चलता है कि उस समय यह एक स्वतन्त्र जनपद [13] था। मुद्राओं पर त्रिकता जनपद देश ब्राह्मी लिपि में लिखा मिलता है। दूसरी ओर की लिपि खरोष्टी है। ये मुद्रायें चौकोर हैं।

औदुम्बरगण : पाणिनि[14] के गणपाठ के उल्लिखित अन्य राजन्य समूह में औदुम्ब का भी नाम लिया जाता है। उसने इसे जालंधर के निकटवर्ती कहा है। महाभारत[15] में औदुम्बरों का नाम शामिल भी है जिन्हें उत्तर के निवासी बताया है, विष्णु पुराण में त्रिगर्त अथवा कुणीन्द जाति के साथ इनका उल्लेख किया हुआ है। किन्तु बृहतसंहिता में उन्हें मध्य देश के निवासी बताया गया है। चन्द्रवर्ती में औदुम्बरों का वर्णन मद्रों के साथ आया है।[16] औदुम्बर[17] देश कहीं रावी और व्यास नदियों की ऊपरी दूनों में रहा होगा, जिसकी पुष्टि बौद्ध ग्रंथों तथा वहां पर मिली औदुम्बर मुद्राओं[18] से होती है। पठानकोट[19] व नूरपुर आदि भाग भी औदुम्बर देश में ही शामिल थे। ये प्राचीन शालव[20] जाति की 6 श्रेणियों में से एक थे। मद्र भी शालव जाति में से थे। औदुम्बर अपने को ऋग्वेद के तीसरे सूक्त के रचयिता विश्वामित्र[21] के वंशज मानते थे। पातंजलि ने औदुम्बरावती[22] नदी का उल्लेख किया है, जो ऊपर लिखित दूनों के बीच की कोई छोटी नदी होनी चाहिए। इसी के तट पर औदुम्बरों की राजधानी रही होगी। संभवतः यह नदी वही हो सकती है जो गुरुदासपुर[23] के पास व्यास में मिलती है। औदुम्बरों की राजधानी और अगलपुर को बौद्ध धर्म के गढ़ बताया गया है। राजन्यादगण[24] में औदुम्बर देश के क्षत्रियों

को औदुम्बरक कहा गया है। औदुम्बरों ने अपने समृद्ध काल में मुद्रायें भी चलाईं। पठानकोट, ज्वालामुखी, हमीरपुर आदि स्थानों पर इस गणराज्य की कुछेक मुद्रायें मिली हैं। यह मुद्रायें तीन प्रकार की हैं जो ऐतिहासिक दृष्टिकोण से काफी महत्वपूर्ण हैं। पहली प्रकार की मुद्रा तांबे की चौकोर हैं, जो सबसे पहले इस गण ने तैयार कराई थी। यह मुद्रायें सर्वथा भारतीय ढंग की हैं क्योंकि बाद की मुद्राओं पर पहलव और कुषाण का प्रभाव टपकता है। इस प्रकार की मुद्राओं पर ब्राह्मी तथा खरोष्टी दोनों लिपियों में राजा के नाम के साथ गण (औदुम्बर) का नाम भी मिलता है। लिपि से अनुमान लगाया जा सकता है कि ये मुद्रायें ईसा पूर्व प्रथम शताब्दी से पहले की हैं। वस्तुत: ये अधिक पुरानी होंगी तथा पहलव और कुषाण राजाओं के आने से पूर्व तैयार की गई होंगी। इन पर शिवदास, रुद्रदास, महादेव और धरघोश चार राजाओं के नाम मिलते हैं। इन राजाओं में महादेव बड़ा शक्तिशाली राजा था, जिसने मथुरा के उत्तमदत्त नामक राजा पर विजय पाई थी।[25] इसका पता उत्तमदत्त की उन मुद्राओं से लगता है जिस पर दुबारा महादेव की छाप चढ़ी है। मुद्राओं के आगे वाले भाग के घेरे में वृक्ष तथा हाथी का चित्र खरोष्टी लिपि में महादेव रानों की उपाधि के साथ ऊपर लिखे राजाओं के नाम मिलते हैं। पृष्ठ भाग में दो मंजिल की इमारत, त्रिशूल, ब्राह्मी में भी उपाधि सहित इन्हीं राजाओं के नाम मिलते हैं।

दूसरी प्रकार की मुद्रायें चांदी की हैं जो कम मिलती हैं। इस पर अंकित चिह्नों तथा धरघोष की आकृति से पता चलता है कि यह औदुम्बरगण मुद्रा है। यह भारतीय यूनानी मुद्राओं अर्द्धद्रम के अनुकरण पर तैयार की गई थीं। इन मुद्राओं पर एक ओर मनुष्य की आकृति है जिसके कंधे पर संभवत: बाघ का चमड़ा रखे शिव की मूर्ति है और साथ ही खरोष्टी में 'यह देवस राजो धर-घोषणा औडुम्बरिस' लिखा है। राजा के नाम के अतिरिक्त निचले भाग पर के घेरे में वृक्ष तथा त्रिशूल बना है, जो औदुम्बर गण के तांबे की मुद्राओं पर मिलता है। ब्राह्मी अक्षरों में राजा का नाम लिखा हुआ है। कुछ मुद्रायें विश्वामित्र शैली की भी कही जाती हैं, क्योंकि उन पर मनुष्य की आकृति को विश्वामित्र (गण का देवता) कहा जाता है।[26] धरघोष महादेव का उपासक था और महादेव औदुम्बर जाति के उपास्यदेव थे। एक दूसरे प्रकार की चांदी की मुद्रा भी मिली है जो महादेव की आकृति वाली मुद्रा के ढंग की है। हाथी तथा त्रिशूल भी इस मुद्रा पर दिखाई देते हैं। इसी कारण इसे औदुम्बरगण की मुद्रा मानते हैं। इस मुद्रा पर 'विजय रानों वेमकिस रुद्रर्मस' का उल्लेख भी खरोष्टी तथा ब्राह्मी लिपियों में पाया जाता है। इस राजा की स्थिति के बारे में अधिक प्रमाण नहीं मिलते। रुद्रवर्मन की मुद्राओं पर जो विजय रानों वेमकिस रुद्रवर्मन' उल्लेख मिलता है, उसका अर्थ विजयी रुद्रवर्मन हो सकता है। और संभव है वोमकि उसके वंश का नाम हो।

तीसरे प्रकार की गोल तांबे की मुद्रायें मिलती हैं जो चिह्नों के आधार पर इस गण की मानी जाती हैं। इन मुद्राओं पर घेरे में वृक्ष, हाथी, त्रिशूल आदि के चिह्न अंकित हैं जो औदुम्बर मुद्राओं से मिलते हैं। इन मुद्राओं पर दो मंजिले मन्दिर की आकृति भी दिखाई पड़ती है। खरोष्टी तथा ब्राह्मी लिपियों में राजाओं के नाम भी इन मुद्राओं पर लिखे हैं। लेकिन इस बारे में कोई भी निश्चित मत नहीं कायम किया जा सकता है। ये मथुरा के राजा के समान उपाधिकारी है जो इस गण की मुद्राओं पर कम पाया जाता है। ब्रिटिश संग्रहालय में राज्ञों अजमितस तथा तीन अन्य शासकों—महीमित्र, भानुमित्र और महाभूति-मित्र की मुद्रायें सुरक्षित

हैं। ये होशियारपुर से मिली हैं, जो पहली सदी में वहां प्रचलित थीं। ऐसा विश्वास किया जाता है कि ईसा पूर्व की पहली शताब्दी के अन्त में नव वंश के राजाओं ने ज़ोर पकड़ा, जिनमें रुद्र-वर्मन, अभिमित्र, महीमित्र और भानुमित्र उल्लेखनीय है।[28] औदुम्बर मुद्राओं से भारतीय वास्तुकला पर प्रकाश पड़ता है। उन पर मन्दिर की आकृति अंकित है जिसके ऊपरी भाग में छत्र भी है। साथ ही परशु के साथ त्रिशुल बना है, जिससे सिद्ध हो जाता है कि औदुम्बर शैव मतानुयायी थे। औदुम्बरों की मुद्राओं पर राजाओं के नाम मिलते हैं। शिवदास, रुद्रदास, महादेव, धरघोष, रुद्रवर्मा, आर्यमित्र, महिमित्र, मानुमित्र और महाभूति-मित्र। एक मुद्रा पर विश्वामित्र का उल्लेख भी मिलता है।

कुलूत : त्रिगर्त जनपद के साथ लगता हुआ एक और जनपद था जिसका नाम कुलूत[29] था। इस जनपद के एक ओर औदुम्बर [30] देश था और दूसरी ओर कुलिंद जनपद। यह जनपद व्यास नदी की ऊपरी घाटी में फैला हुआ था। कुलूत जनपद का वर्णन रामायण, महाभारत, बृहत् संहिता, मार्कण्डेयपुराण और विष्णु पुराण में मिलता है, जिसमें इसे उत्तर दिशा में स्थित बताया गया है। ऐतिहासिक तथ्यों से सिद्ध होता है कि कश्मीर और त्रिगर्त को छोड़कर कुलूत सबसे प्राचीन राज्य था। मुद्राराक्षस से पता चलता है कि कुलूत का राजा चित्रवर्मा भी उन पांच राजाओं में से एक था जिसने अन्य राजाओं के साथ मिलकर चन्द्र गुप्त[31] मौर्य का विरोध किया।

कुलूत के बारे में सबसे प्राचीनतम प्रमाण एक मुद्रा पर 'राजान: कुलूतस्य वीरायास्य' के उल्लेख का है।[32] प्राचीन लिपियों के आधार पर इसे ईसा पश्चात् पहली और दूसरी शताब्दी का ही कहा जा सकता है। राजा विरायसस्य की मुद्राओं पर संस्कृत भाषा का ब्राह्मी लिपि में लेख मिलता है। उसी में खरोष्टी में प्राकृत 'राना' शब्द का भी उल्लेख है।

कुलिन्द : यह जनपद व्यास नदी के ऊपरी भाग से लेकर यमुना नदी तक फैले हुए हिमालय के इस पर्वतीय प्रदेश में विस्तृत था।[33] हिमालय की निचली पर्वत श्रेणियां तथा शिवालिक की पहाड़ियां इसी जनपद के भू भाग थे। इसके पश्चिम में त्रिगर्त तथा कुलूत जनपद स्थित थे। सम्भवत: इनकी सीमा शतुद्रु (सतलुज) रही होगी। अलगजान्डर कनिघम के अनुसार सतलुज नदी के दोनों ओर के पर्वतीय प्रदेश विशेषकर सोलन और शिमला जिले कुलिन्द प्रदेश में आते थे।[34] दक्षिण में इनकी सीमा अम्बाला[35] सहारनपुर और सूगह तक थी। कनिघंम का यह भी मत है कि सूगह इनकी राजधानी थी। पूर्व में गढ़वाल का [36] कुछ भाग भी इसी जनपद में आता था। कुलिन्द जनपद का वर्णन महाभारत, [37] बृहत्संहिता, विष्णुपुराण और मार्कण्डेय[38] पुराण में आता है। इन सभी ग्रंथों के अनुसार यह जनपद उत्तर में ही रहा होगा। महाभारत युद्ध में कुलिन्द कौरवों की ओर से लड़े थे, परन्तु कुछ कुलिन्द पुत्र पाण्डव पक्ष में भी लड़े।[39] पाणिनि को भी इस जनपद का भली प्रकार ज्ञान था।[40] उन्हें क्षत्रिय कहा गया और पाणिनि के अनुसार यह पेशेवर लड़ाकू थे। कनिघम का मत है कि कुल्लू से लेकर गढ़वाल के इस पर्वतीय प्रदेश में आज के कनैत कुलिन्दों के ही वंशज[41] हैं। कुलिन्द सदा पर्वतवासी थे और उनका देश पार्वत्य था[42]। मुद्राओं पर इनका नाम कुलिन्द मिलता है। तालमी ने इन्हें कुलिनद्राणी कहा है। कुलिन्दों की मुद्रायें दो प्रकार की थीं। इन्हें दो अधिकारियों ने चलाया। पहली मुद्रा पर मृग की आकृति है और साथ ही अमाघभूति का नाम लिखा है। इसने चांदी और तांबे की मुद्रायें चलाईं जिनके तीन यूनानी तोल (चांदी 32 रत्ती और तांबा 144 ग्रेन) के बराबर है। परन्तु शैली

भारतीय है। कुलिन्द की ये मुद्रायें कई स्थानों से प्राप्त हुई हैं। कुछ मुद्रायें कांगड़ा में तथा मेवा (हमीरपुर) एवं ज्वालामुखी [43] से और कुछ अम्बाला[44] और सहारनपुर के मध्य वाले भाग से मिली है। गढ़वाल[45] में भी कुलिन्दों की मुद्रायें मिली हैं। ऐसी हज़ार मुद्राओं की निधि सुमाड़ी गांव में हल चलाते मिली। कुछ वर्ष पूर्व मंडी जिला की वलह घाटी में एक मकान की नींव खोदते समय भी इसी प्रकार की मुद्रायें प्राप्त हुई थीं। अम्बाला, सहारनपुर, देहरादून तथा उसके उत्तर पहाड़ी प्रदेश में कुलिन्द या कुनिन्द नाम का एक बहुत ही प्रसिद्ध और शक्तिशाली गणराज्य स्थापित था। व्यास से लेकर यमुना की उत्तर पश्चिमी धारा तौंस नदी तक समूचा प्रदेश कुलिन्दों का था। इससे प्रकट होता है कि मुद्रा ईसा पूर्व की है। कुलिन्दों की ये दो प्रकार की मुद्रायें ईसा पूर्व 150 से सन् 200 तक प्रचलित थीं। मृगवाली मुद्राओं के अग्रिम भाग में कमल सहित लक्ष्मी की मूर्ति, एक मृग, छत्र सहित चौकोर स्तूप तथा एक चक्र बना है तथा ब्रह्म में 'अमोघमृतस महरजस राज्ञकुणदस' लिखा है। कुलिन्द शासकों ने कुछ समय पूर्व भारतीय यूनानी राजाओं द्वारा प्रचलित चांदी की मुद्राओं के स्थान पर देशी ढंग से चांदी की मुद्रायें तैयार कराई। पृष्ट भाग पर सुमेरु पर्वत, स्वस्तिक, नन्दिपाद तथा बौधी वृक्ष बनाया गया है। खरोष्टी में 'राजौ कुणिदस अमोघभूति महरजस' लिखा है। अमोघभूति की इसी तरह की तांबे की मुद्रायें मिली हैं। इन पर ब्राह्मी तथा खरोष्टी में लेख दोनों ओर मिलते हैं। बाद की मुद्राओं पर राजा का ही नाम है, परन्तु केवल ब्राह्मी अक्षरों में। अमोघ के अतिरिक्त कुलिन्द जाति के छतेश्वर नामक राजा की तांबे की मुद्रा मिलती है। उनके अग्रभाग में त्रिशूल लिए शिव की मूर्ति खड़ी है। रैंपसन ने उस पर 'भगवान छत्रेश्वर महामन' पढ़ा है। पृष्ठ भाग में मृग, नन्दिपाद, बौधी वृक्ष तथा सुमेरु पर्वत आदि की आकृति पाई जाती है। यह अमोघभूति से पीछे की है। इनकी ताम्र मुद्रा साधारणत: जनपद के भीतर ही चलती थी। इस पर लिखे ब्राह्मी लेखों से पता चलता है कि यह राज्य की मान्य लिपि रही होगी। चांदी की मुद्राओं पर, जो अधिकांश जनपद से बाहर चलती थीं, खरोष्टी लिपि में लिखा मिलता है। कुलिन्दों की चांदी की मुद्राओं पर लिखी भाषा से ऐसा भी पता चलता है कि किस प्रकार एक भारतीय राजा ने भारतीय यूनानी चांदी की मुद्राओं का मंडी में मुकाबला करने का प्रयत्न किया। अमोघभूति के पश्चात् शकों और हूणों ने दक्षिण की ओर से कुणिन्दों पर आक्रमण भी किए। कुलिन्दों ने पंजाब के योद्धाओं और अर्जुनायनों के साथ मिलकर कुषाण राज्य को नष्ट करने के लिए एक दृढ़ संघ बनाया था। समुद्रगुप्त के इलाहाबाद में स्तम्भ लेख में कुणिन्दों का नाम नहीं मिलता। इससे प्रतीत होता है कि यह जनपद 350 ई० से पूर्व ही खतम हो चुका होगा।

इस प्रकार यमुना से लेकर रावी नदी तथा जम्मू तक के इस पर्वतीय प्रदेश में छोटे-बड़े जनपदों का एक जाल-सा बिछा हुआ था। ये जनपद उदीच्य जनपद या पर्वतीय संघ कहलाते थे। अधिकांश ये पहाड़ी राज्य आयुधजीवी[46] संघ शासन के मानने वाले थे। ये जनपद कब अस्तित्व में आए, निश्चित रूप से कुछ कहा नहीं जा सकता। परंतु इतना जरूर है कि महाभारत काल तक यह स्थापित हो चुके थे। महाभारत में इन सभी का वर्णन यत्र-तत्र पाया जाता है। सभापर्व में लिखा है कि जब अर्जुन दिग्विजय पर उत्तर की ओर निकला तो उसने पहले कालकूट (संभवत: कालका और पास की पहाड़िया) और कुलिन्द देशों पर विजय पाई। इसी विजय यात्रा में उसके त्रिगर्त इत्यादि देशों के भी जीतने का वर्णन मिलता है। ये पर्वतीय राजे युधिष्ठिर के राजसूय यज्ञ में भी अपने-अपने देश से भेंट लेकर आये थे। इससे यह निष्कर्ष

निकलता है कि वे जनपद स्वतंत्र न होकर कुरू राज्य के आधिपत्य में रहे होंगे। महाभारत के युद्ध में इन जनपदों के कुछ लोग कौरवों की ओर से लड़े थे और कुछ ने पांडवों का साथ दिया था। महाभारत युद्ध के बाद से लेकर पाणिनि तथा बौद्ध काल तक भारतीय इतिहास एक धुमिल काल से गुजरा। इस अवधि में कोई ऐसा शक्तिशाली राजा न हुआ जो इन छोटे-छोटे राज्यों का संगठन करता। अतः ऐसा जान पड़ता है कि यह जनपद स्वतंत्र रूप से मौर्य काल तक चलते रहे।

सिकन्दर के आक्रमण के पश्चात् जब चन्द्रगुप्त मौर्य ने भारत को एक सूत्रबद्ध कर एक विशाल राज्य की स्थापना की तो उसके मंत्री चाणक्य ने हिमालय पर्वत प्रदेश के एक राज्य के पर्वतक या पर्वतेश नामक प्रधान से मैत्री-संधि की थी।[47] परिशिष्टपर्वत नामक जैन ग्रंथ में भी इस मैत्री-संधि का उल्लेख मिलता है। उसमें कहा गया है कि चाणक्य हिमवन्तकूट गया, और उस प्रदेश के राजा पर्वतक के साथ संधि की। बौद्ध वृत्तांतों में भी चाणक्य के पर्वत नामक एक घनिष्ठ मित्र का उल्लेख मिलता है। मुद्राराक्षस से भी पता चलता है कि इस पर्वत प्रदेश के राजा के साथ मैत्री हो जाने के फलस्वरूप चन्द्रगुप्त की सेना, जिसमें विविध जातियों के सैनिक भरती किये गये थे सुगठित हो गयी। पर्वतीय राजाओं में केवल कुलूत का राजा चित्रवर्मा और काशमीर का राजा पुष्कराक्ष थे जिन्होंने चन्द्रगुप्त का विरोध किया था। इस पर्वतीय जनपद के लोगों का मौर्य राज्य के बड़े-बड़े नगरों के साथ नाना प्रकार का व्यापार भी होता था। इन व्यापारिक वस्तुओं में जो हिमाचल से जाती थीं, हेमवत (मोती), बिसी और महाबिसी जाति की खालें उल्लेखनीय हैं।[48]

अशोक ने नेपाल से कशमीर तक का सारा हिमाचल प्रदेश अपने आधिपत्य में कर लिया परंतु राज्य व्यवस्था के लिए वहां के स्थानीय शासकों को वहीं का शासन प्रबन्धक बना दिया। अशोक ने हिमालय में भी कई स्तूप बनाये। कुलूत (कुल्लू) के स्तूप का वर्णन ह्वान च्यांग (629-44 ई०पू० भारत में) ने भी किया है। लिखा है कि प्रदेश के मध्य भाग में एक स्तूप है जिसे राजा अशोक ने तथागत की पुण्य स्मृति में बनाया। कालसी से प्राप्त अशोक के शिलालेख से भी अनुमान होता है कि यह भाग अशोक के आधिपत्य में रहा और हिमालय के वाणिज्य द्वारों के महत्त्व को मौर्य शासक मानते थे, और उन्होंने हिमालय से नजदीक का संबंध स्थापित किया था।

210-211 ई०पू० के करीब मौर्य साम्राज्य छिन्न-भिन्न होने लगा। यह स्वाभाविक था कि दूर के जनपद विशेष कर दुर्गम पर्वतीय जनपद सबसे पहले उससे अलग हो जाते। इस प्रकार जब मगध-साम्राज्य से दूर-दूर के प्रांत अलग हो गये, और उसकी शक्ति क्षीण हो गई, तब उसके अंदर भी क्रांति आई। अंतिम मौर्य राजा बृहद्रथ को उसी की समूची सेना के सामने उसके ब्राह्मण सेनापति पुष्पमित्र शुंग ने तलवार से 188 ई०पू० में मार दिया। इस राज्य के अंतिम वर्षों से उत्तर-पश्चिम की ओर से यवनों के आक्रमण हुए। उस समय यवन हिमाचल की भीतरी पहाड़ियों में नहीं घुस पाये ऐसा प्रतीत होता है। ईसा पूर्व की प्रथम शताब्दी में शकों का आक्रमण शुरू हुआ। शकों की शाखा, कुषाण वंश के सम्राट कनिष्क ने काशमीर से लेकर कुमाऊं तक के पर्वतीय प्रदेश को अपने आधिपत्य में कर लिया था। साम्राज्य की स्थापना के साथ शासन की सुविधा के लिए राज्य को प्रांतों में बांध दिया। यही प्रणाली मौर्यों में भी थी। कुषाण राजाओं ने भी स्थान-स्थान पर अपने कर्मचारी नियुक्त किये। दूसरे शब्दों में किसी प्रांत (जनपद) का

राजा, सम्राट का अधिकारी बन गया और शासन करता रहा। जब केन्द्रीय सरकार कमज़ोर हो गई तो वहां के शासक स्वतंत्र हो जाते थे। कुष्णा राज्य के पश्चात् कई प्रांत स्वतत्र हो गये। गणों तथा जनपदों में सामूहिक रूप से कुषाणों का अंत करने में कुछ कमी न रखी। इन जनपदों में कुलिन्द जनपद का नाम उल्लेखनीय है जिसने पंजाब के यौद्धेय और अर्जुनायन के साथ मिल कर कुषाण राज्य को खदेड़ दिया। जब-जब यह राज्य स्वतंत्र होते गये, तब-तब उन्होंने अपनी-अपनी मुद्राएं भी चलाईं। अंत में इन्हें चौथी शताब्दी में समुद्रगुप्त ने जीत कर अपने अधीन कर लिया। इसके साथ ही जनपद काल समाप्त हो गया। क्रमशः

संदर्भ

1. माता भूमि: पुत्रो अहं पृथिव्या।
2. धर्मवीर : पंजाब का इतिहास, इलाहाबाद, 1950 पृ० 99
3. वही, पृ० 94
4. चतुरसेन : भारतीय संस्कृति का इतिहास, मेरठ, 1958, पृ० 494
5. मुकर्जी, राधाकुमुद : हिंदु समयता, दिल्ली, 1958, पृ० 120
6. आयुधजीविम्यरछः पर्वते 4-3-61
7. Sastri K.A. Nilkanta : Comprehensive History of India, Bombay, 1957, Vol II. p. 132
8. Roy chaudhry H.C. : Political History of Ancient India, Calcutta, 1953, p. 64
9. Majumdar R.C. : History and Culture of Indian, People : Age of Imperial Unity. Bombay, 1953, p. 160
10. Punjab Govt. : Punjab District Gazetteer. Vol VIII A, Kangra 1924-25, Lahore, 1928. p. 51
11. राजन्यादिगण 4-2-53
12. भगवतदत्त : वैदिक वाङमय का इतिहास, लाहौर, 1935, भाग 1, पृ० 26
13. Sastri, K.A. Nilkanta, Comprehensive History of India, Bombay, 1957, Vol II, p.110
14. राजन्यादिगण 4/2/53
15. महाभारत सभापर्व
16. Przyluski, J : Ancient People of the Punjab, Calcutta, 1960, p. 3
17. Sastri, K. A. Nilkanta, Comprehersive History of India, Bombay, 1957, Vol. II, p. 109
18. Przyluski, J. : p. 12
19. Cunningham, A. : Coins of Ancient India, Varansi, 1963, p. 67
20. Majumdar, R.C. : p. 161
21. Rapson, E. 7. Combridge History of India, Delhi, 1955, Vol. I, p. 476

22. Puri, B.N. India in the time of Patanjali, Bombay, 1957. p. 7
23. Imperial Gazetter of India Atlas, Vol. XXVI
24. राजन्यादिगण 4/2/52
25. Sastri, K.A. Nilkanta. p. 109
26. उपाध्याय, वासुदेवशरण, भारतीय सिक्के प्रयाग, सं० 2005, पृ० 82
27. Chattopadhyaya, S. : Early History of Northern India, Calcutta, 1958, p. 43
28. वही
29. अग्रवाल, वासुदेवशरण : पाणिनि कालीन भारत, काशी, सं० 2012, पृ० 69
30. Sastri, K.A. Nilkamta, p. 136
31. मुकर्जी, राधाकुमुद : चन्द्रगुप्त मौर्य और उसका काल दिल्ली, 1962, पृ० 50
32. Sastri, K. A. Nilkanta, p. 136
33. वही, पृ० 110
34. Cunninghan, A. p. 70-71
35. वही, पृ० 70-71
36. सांकृत्यायन, राहुल : हिमालय परिचय, इलाहाबाद, 1953, पृ० 63-64
37. महाभारत (1) द्रोणपर्व 121/14, 16। (2) कर्णपर्व 5/19
38. मद्रेणेहन्यश्च कौणिन्दा-शतद्रुजा : कुणिन्दाश्च
39. महाभारत कर्णपर्व 89/2-7
40. अग्रवाल, वासुदेवशरण, पृ० 569
41. Cunningham, p. 71
42. भगवतदत, भारतवर्ष का बृहद इतिहास, दिल्ली, सं० 2012, भाग 2, पृ० 101
43. Sastri K.A. Nilkanta, p. 110
44. उपाध्याय, वासुदेव, पृ० 82
45. सांकृत्यायन, राहुल, पृ० 64
46. आयुधजीविम्यरछः पर्वते 4/3/91
47. मुकर्जी, राधाकुमुद : पृ० 50
48. वही, पृ० 277

[हि० प्र० सचिवालय पुस्तकालय, शिमला-171002]

हिमाचल की भूमि पर अंग्रेज़-गोरखा युद्ध

□ प्रो० चंद्रवर्कर

उन्नीसवीं शताब्दी के शुरू में अंग्रेजों ने हिमालय के इलाकों को तिब्बत के साथ ऊन आदि का व्यापार बढ़ाने तथा भारत जैसे गर्म देश में ठंडे जलवायु वाले इलाकों को हथियाने के लोभ से अपने अधिकार में लेना चाहा। इसी के साथ अपने अधीन क्षेत्र की तीस्ता से सतलुज तक की नेपाल से लगती सीमारेखा को निर्धारित करके उसे सुरक्षित बनाने के लिए भी यह ज़रूरी था। इन कारणों से अंग्रेज़ों ने पहली नवम्बर, 1814 को नेपाल के साथ युद्ध छेड़ दिया।

हिमाचल के भू-भाग में यमुना और सतलुज के बीच में इलाके में पहले 1810 में और फिर 1813 में नेपालियों ने नालागढ़ और रामगढ़ के कुछ गावों पर अपना अधिकार जमा लिया था। 1813 में नेपाली कमांडर अमरसिंह थापा ने नालागढ़ के भटोली तअलुका के चार मैदानी गांवों और उसके लड़के रणजोर सिंह ने मुदलाई और भड़ौली गांवों पर आक्रमण किया। परंतु अंग्रेजों के कठोर रुख के कारण बाद में इन गावों को छोड़ दिया। अमरसिंह थापा ने सोचा था कि इन गावों को वापिस करने पर कांगड़ा के किले को हथियाने में अंग्रेजों की मदद मिल सकेगी। उसने टकसाल में आक्टरलोनी के साथ इस उद्देश्य से मुलाकात भी की, लेकिन आक्टर-लोनी ने मदद देने से इन्कार कर दिया।

अंग्रेज़-नेपाल युद्ध के तात्कालिक कारण नेपालियों के मुनराज फौजदार द्वारा 29 मई, 1814 को गोरखपुर जिले में बुटवल पर आक्रमण करना, उनका श्योराज पर पुन: अधिकार होना और चिलवा के थानादार का कत्ल हो जाना था।

उस समय उत्तर-पश्चिमी भारत का राजनैतिक रंगमंच बड़ा उलझा हुआ था। अमर सिंह थापा रणजीतसिंह से 1809 की काँगड़ा की हार का बदला चुकाना चाहता था। संसार चंद भी कांगड़ा किले को हथियाने के कारण रणजीत सिंह से नाराज़ था। रणजीत सिंह अंग्रेजों द्वारा सतलुज पूर्व मैदानी इलाके में भाग्य आजमाई से वंचित किए जाने पर दिल-दिल में अंग्रेजों से खफा थे। कई पहाड़ी राजा नेपालियों द्वारा अपने राज्यों से निकाले जाने के कारण उनके विरुद्ध थे। संसारचंद की फौज का कमांडर ओब्राइन अंग्रेजी फौज का एक भगौड़ा था।

इस स्थिति को इस्तेमाल करने के लिए अंग्रेज़ों ने कई राजनैतिक कदम उठाए। 17 अक्तूबर, 1814 को उदघोषणा की कि नेपालियों द्वारा निष्कासित पहाड़ी राजाओं को

जीत के बाद उनकी रियासतें लौटा दी जायगी। संसारचंद को यह कह दिया है कि उसकी सारी मुसीबतों का कारण उस पर बिलासपुर के राजा द्वारा प्रेरित नेपालियों का हमला है। उसे यह कहकर बिलासपुर पर हमला करने को कहा,ताकि यह कार्यवाही नेपालियों के विरुद्ध लाभदायक सिद्ध हो सके। ओब्राइन को कहा गया कि ऐसा करने के लिए वह संसारचंद को तैयार करें और यदि संसार चंद में हौसला न हो तो स्वयं उसकी फौज के साथ आ जाए। ऐसा करने पर भगौड़ा होने की सजा मुआफ कर दी जाएगी।

संसार चंद चाहता था कि अंग्रेज़ कांगड़ा किला वापिस दिलाने में उसकी सहायता करें। पर ऐसा करने से रणजीत सिंह को तटस्थ रखने में बाधा पड़ती थी। इसलिए संसारचंद को इस बारे में कोई प्रोत्साहन न देकर उसकी मदद चाही गई। रणजीत सिंह को अपना मैत्रीभाव बताते हुए यह भी याद दिलाई गई कि अमरसिंह ने हम अंग्रेज़ों से मिलकर उसके खिलाफ संयुक्त कार्यवाही करने का प्रस्ताव रखा है। उसे साथ ही यकीन दिलाया गया कि इस युद्ध में उसके हितों का कोई नुकसान नहीं पहुंचेगा। सतलुज के इस तरफ के मैदानी राजाओं को सहायक सेनाएं भेजने के लिए कहा गया।

युद्ध के दौरान अमरसिंह और रणजीतसिंह के साथ मसले को कूटनीतिक ढंग से हल करने के लिए पत्र व्यवहार कायम रखा गया। अमरसिंह के नेपाल के प्रधानमंत्री भीमसैन थापा और वहां के दूसरे लोगों के साथ मतभेदों को देखते हुए इससे लाभ उठाने की पूरी कोशिश की गई। उसे फोड़ने के लिए उसे स्वतंत्र तौर पर बुशहर रियासत देने की असफल पेशकश भी की गई।

सारी लड़ाई के समय नेपालियों की हार न चाहते हुए भी रणजीतसिंह तटस्थ रहा। संसारचंद और ओब्राइन हिले तक नहीं। निकाले गए पहाड़ी राजाओं में से केवल नालागढ़ का रामसरन ही उठकर अंग्रेजों की मदद पर आया। सिरमौर के राजा के संबंधी किशन सिंह ने फ्रेजर और यंग के साथ मिलकर नाहन में कच्ची पलटनें खड़ी कीं।

बघाट का राजा महीन्द्र सिंह जिसे अपने ज़ोर के दिनों में रामसरन ने निकाल बाहर किया था, नेपालियों के साथ रहा। बुशहर का बजीर रामदास पहले नेपालियों के साथ रहा, पर मलौण पर के घेरे के बाद अंग्रेजों से मिल गया और उत्तरी इलाकों में कुल्लू और दूसरे राजाओं को सेना के साथ नवागढ़, मस्तगढ़, रावींगढ़ और दूसरे किलों से खदेड़ दिया।

बाकी राजा पहले लड़ाई का रुख देखते रहे फिर अंग्रेजों के कैम्प में चले गए। बिलासपुर का राजा महानचंद एक हज़ार सैनिकों के साथ नेपालियों की मदद के लिए आ गया और उनकी रसद का मुख्य स्रोत रहा। परन्तु बंदलाधार पर हार के बाद 23 फरवरी, 1815 को अपने सतलुज के इस ओर के वंशागत क्षेत्र को प्राप्त करने के बारे में सनद लेकर अंग्रेज़ों के साथ हो लिया।

इस युद्ध के परिणाम स्वरूप हिमाचल के सतलुज पूर्व के इलाके अंग्रेज़ों के अधीन आ गए। उन्होंने मलौण और स्पाटू के किलों और सामाजिक महत्व के कुछ अन्य स्थानों को अपने पास रखकर, कहीं-कहीं कुछ फेर-बदल करके पुश्तैनी राज-परिवारों को उनकी रियासतें उनकी सनदों में लिखी शर्तों के अनुसार दे दी गईं। क्यूंठल के आठ और बघाट के पांच परगने पटियाला को 'नज़राने' के बदले दे दिए गए।

इन इलाकों पर नियंत्रण के लिए स्पाटू में आर० रौस और नाहन में जी० बर्च को

राजनीति अधिकारी नियुक्त किया गया।

अलग-अलग झड़पों और लड़ाइयों के ब्यौरे में न जाते हुए यहां इस युद्ध के हिमाचल में हुए भाग के मुख्य विवरणों और विशेषताओं को ही यहां लिया है।

यह इलाका अंग्रेजी आक्रमणकारी सेना की दो डिवीजनों के हवाले किया गया। चौथी डिवीजन आक्टरलोनी की कमान में लुधियाना में चलकर 31 अक्टूबर, 1814 को रोपड़ के पास पलासी पहुंची। यह करनाल और लुधियाना में स्थित सेना से बनाई गई। शुरू में इसकी कुल नफरी 5993 थी, जिसमें देशी और योरोपी तोपखाने में के तोप-लश्कर और ड्राइवरों को मिलाकर 950, देशी पयादा फौज 9778 और पायोनीयर 265 थे। बाद में कुमक पहुंचने पर यह संख्या 7112 हो गई। 5 नवम्बर को नालागढ़ और तारागढ़ जीतकर यह डिवीजन रामगढ़ धार के किलों की ओर बढ़ी। 26 नवम्बर को लाटों की टुकड़ी को नैपालियों ने बुरी तरह हराया। उसके एक महीने बाद थॉम्सन ने मंगू की धार के नीचे नेपालियों को बड़ी हार दी। मध्य जनवरी से मध्य फरवरी, 1815 तक अमरसिंह थापा को रामगढ़ धार छोड़कर मलौण धार पर जाने के लिए मजबूर कर दिया गया। कैप्टन रौस ने बिलासपुर को हराया, जिससे नेपालियों की सप्लाई लाइन सूख गई। आर्नोल्ड मलौण धार की पूर्वी ढलान पर रामगढ़ में और आक्टरलोनी गमरौला नदी पर पहुंच गए। 16 फरवरी को रामगढ़ और 17 को जुर्जुरे 11 मार्च को तारागढ़ और 16 मार्च को चम्बा को अंग्रेजों ने जीत लिया। 14-15 अप्रैल को मलौण धार पर मलौण के किले के पास दयोथल और सूरजगढ़ के पास रौला की खाली चोटियों पर अधिकार कर लिया गया। बदले में 16 अप्रैल को भक्तिथापा ने दो हजार नेपालियों को लेकर दयोथल पर हमला बोल दिया और बड़ी वीरता के साथ लड़ता हुआ अपने सात सौ आदमियों के साथ शहीद हुआ। उसी रात सूरजगढ़ और साथ के अड्डे खाली कर दिए गए।

इसके बाद नेपालियों के किलों की निरन्तर जंजीर टूट गई। उनके हौंसले गिरते गए। अमरसिंह की सेना घटती गई। सात मई को केवल दो सौ को छोड़कर सारी की सारी फौज अंग्रेजों से आ मिली। जब मलौण के किलों के सामने तोपें गाड़ दी गई, तो अमरसिंह ने संधि चाही और 15 मई, 1815 को मलौण की संधि करके इस क्षेत्र में युद्ध समाप्त कर दिया और जैतक में रणजोर सिंह और उत्तरी इलाकों में कीर्तिराणा को अपने-अपने मातहत किले छोड़ने का आदेश दे दिया।

तीसरी डिवीजन मार्टिडेल की कमान में दिसम्बर, 1814 के तीसरे सप्ताह में नाहन के इलाके में पहुंची। रणजोर सिंह नाहन को छोड़ कर जैतक के किले में चला गया। 26 दिसम्बर को इस किले की दोनों ओर की धारों पर अधिकार करने के लिए एक टुकड़ी लुडलो और दूसरी रिचर्डज के मातहत भेजी गई। दोनों अपने-अपने निशानों पर पहुंच गईं। पर नेपालियों के जवाबी हमले के आगे न टिक सकीं।

इसके बाद 21 मई, 1815 तक जिस दिन रणजोर सिंह ने आत्म समर्पण किया, यह सेना मुख्यतः शिथिल-सी रही। 31 जनवरी को इसकी कच्ची पलटनों ने बनेठी और फिर नौणी में और रिचर्डस ने पंजल में जीत हासिल की। जेम्स बेली फ्रेजर जुबल, हाटकोटी होता रामपुर तक पहुंचा। उधर नेपालियों ने 21 फरवरी को चनालगढ़ में अंग्रेजी फौज की कच्ची पलटनों को तहस-नहस कर दिया। अपनी निष्क्रियता और अनिर्णायकता के कारण मार्टिडल की बहुत

बदनामी हुई।

इस युद्ध में नेपालियों की खुखरी और उनके स्टॉकेड ने बड़ा नाम कमाया। अंग्रेज़ी फौज की यह लड़ाई अनजाने इलाके में थी। वे नेपालियों की खुखरी की चमक से ही चुंधिया जाते। खुखरी के आगे बढ़ते ही उनकी संगीनें पीछे हट जाती और परेशान होकर वह भाग खड़े होते।

नेपालियों ने पहाड़ों की चढ़ाइयों-उतराइयों का अधिकतम लाभ उठाया। वे न लांघी जा सकने वाली ऊंची पहाड़ी धारों और चोटियों पर जा बैठते। वहां पर स्टॉकेड यानी लक्कड़-कोट या अड्डा बना लेते। उपयुक्त स्थान चुनकर कुछ-कुछ फुट की दूरी पर स्थानीय विधि से काटी हुई लकड़ी के खम्बों को आमने-सामने दो पंक्तियों में गाड़ देते और खाली स्थान को पत्थर, मिट्टी और वृक्षों की टहनियों आदि से भर देते। इससे बचाव का बड़ा मज़बूत अड्डा बन जाता। केवल तोप का गोला ही इसको गिरा सकता था। ऑक्टरलोनी ने नेपालियों के इसी स्टाकेड को अपना कर अपनी सेना को नेपालियों के हमलों से बचाने के लिए इस्तेमाल किया।

अंग्रेज़ों ने अपनी रणनीति इस आशय पर बनाई थी कि ज्योंही लड़ाई शुरू होगी, अमर सिंह थापा पूर्व की ओर पीछे हट जाएगा और उसके पीछे हटने को विभिन्न स्थानों पर छोटी-छोटी टुकड़ियां तैनात करके रोका जाएगा ताकि वह पूर्व में स्थित नेपाल की बाकी सेनाओं से न मिल सके। परन्तु पीछे हटने की बजाय अमर सिंह थापा बड़ी मजबूती से अपने किलों और स्टॉकेटज़ में डट गया। उसके ज़ोरदार मुकाबला करने के दृढ़ निश्चय को देख कर ऑक्टरलोनी ने अपनी रणनीति बदली। उसने अपनी सेना को हल्की तोपों के साथ धावा बोलने वाली छोटी-छोटी टुकड़ियों में बांटने की बजाए उसे कुछ स्थानों में ही एकत्र करने का फैसला किया और उसे स्टॉकेडज को तोड़ने वाली तोपों के बिना आगे बढ़ने से मनाही कर दी।

इससे खुखरी के मुकाबिले में केवल संगीन नहीं रही, बल्कि सड़क के रास्ते तोप आ गई। जहां सड़क न बन पाई, तोप न पहुंची वहां नेपाली कायम रहे। जहां सड़क बनी वहां अठारह पाऊंडर तोप पहुंची और किले व अड्डे ढह गए। नेपाली हार गए। यदि अंग्रेज़ों के पास यह तोप न होती तो सम्भवतः नेपाली न हारते।

नेपालियों के साहस, दृढ़ता, प्रवीणता, और आत्मविश्वास और खुखरी की मार का अंग्रेज़ी सेना में बड़ा डर बैठ गया। 26 दिसम्बर, 1814 की हार से शर्मिन्दा होकर लुडलो ने अपनी पत्नी को लिखा, "वह गोली मेरी मित्र होती जो मुझे मार देती।' 26 नवम्बर को लाटों की टुकड़ी के काटे जाने के बाद ऑक्टरलोनी ने Adjutant Genral को लिखा, "मुझे यह स्वीकार करने में कोई लज्जा महसूस नहीं हो रही कि यह लड़ाई जिसके लिए बड़ी प्रतिभा-सम्पन्नता चाहिए और जो अपनी परिस्थिति और प्रकृति में नहीं है, की कमान के लिए मैं अनुपयुक्त हूं।" उसने अंग्रेज़ी फौज को पहाड़ी लड़ाई के काबिल नहीं माना।

16 अप्रैल की दयोथल की लड़ाई में नेपालियों की वीरता उच्चतम थी। तोपों को नाकारा बनाने के लिए, उनके दल के दल दायें हाथों में नंगी खुखरियां और बायें हाथों में भरी बंदूकें लेकर एक-दूसरे के पीछे, आगे बढ़ती हुई लहरों की तरह, बार-बार मौत उगलती हुई तोपों से मुंहों की ओर लपकते और हर बार चिथड़े बन कर उड़ जाते।

2 मार्च, 1815 को महाराजा नेपाल को लिखे गए अपने पत्र में अमर सिंह थापा ने लिखा, "मैं उस मनुष्य का शत्रु हूं जो केवल अपने लाभ के लिए ही अंग्रेज से मेल करना चाहता

(शेष पृष्ठ 90 पर)

समीक्षा

हमारा दशक बड़ा है

□ **श्रीनिवास श्रीकांत**

कविता खंड एक वृहद् प्रकाशन योजना का प्रतिफल है जिसे कुछ समान विचारधारा के साहित्यकारों ने बनाया है। पुस्तक के रैपर में सही 'वाम दिशा' और 'वामपंथी कठमुल्लेपन' में भेद बता कर इस कविता को जेनुइन वामपंथी दर्शाने का प्रयास किया गया है। हर स्वर्णकार अपने गहने को शुद्ध बताता है। शुद्ध क्या है इसका पता तब चलता है जब उसे कसौटी पर परखा जाए। काव्य को दशकों में बांटने की प्रथा एक प्रवृत्ति बन गयी है। इस धारणा का आयात पहले-पहल यूरोप से हुआ जहां लेखक को अनेक प्रमुख और मध्यम दर्जे की लड़ाइयों से आने वाले बदलावों का सामना करना पड़ा। मेरे विचार में हमारे यहां वैसी स्थिति नहीं आयी है। हमारे दशक बहुत कुछ 'दूसरों का सत्य' हैं अत: ऐसा वर्गीकरण पूरे नये युग की कविता को छोटा बना देता है। हमारा दशक वस्तुतः बड़ा है—कम-से-कम पच्चीस वर्ष का और शायद इससे भी बड़ा। डा० प्रभाकर श्रोत्रिय का लेख इस सन्दर्भ में काफी छोटा पड़ जाता है।

सम्पादक के अनुसार यह पुस्तक आठवें दशक के प्रतिनिधि कवियों को प्रस्तुत करती है। प्रयास निस्सन्देह सराहनीय है; फिर भी इस काव्य को, हम जिसे 'आठवें दशक का विराट काव्य संसार' कहा गया है, हम उक्त अवधि का प्रतिनिधि काव्य नहीं कह सकते। इसमें से कुछ कविताएं श्रेष्ठ हैं, कुछ औसत और शेष बहुत ही साधारण। लगता है कवियों व कविताओं के चुनाव में सम्पादक पर निश्चय ही कुछ दबाव आग्रह रहे होंगे। परिणामस्वरूप कदापि कुछ ऐसे कवि भी संकलन में शामिल करने पड़े जिनकी रचनाएं शामिल करने योग्य नहीं थीं। ऐसी कविताओं को चिह्नित करना समीक्षक की उद्दण्डता होगी जो मैं करना नहीं चाहता।

संकलन की शुरूआत केशव के आमुख हुई है जिसमें उसने समसामयिक साहित्यिक गतिविधियों का 'सीनेरिया' पेश करने की कोशिश की है तथा विभिन्न मंचों पर हो रही ऊहापोहों के बारे में बताया है। संकलित कविताओं से यद्यपि इन सबका कोई प्रत्यक्ष सम्बन्ध नहीं फिर भी प्रस्तुत खंड इन्हीं ऊहापोहों का परिणाम हैं अतः भूमिका के रूप में संदर्भ को असंगत भी नहीं कहा जा सकता। शिमला में 'शिखर' ने नये कवियों को न केवल मंच प्रदान किया है बल्कि उनके कृतित्व को प्रकाश में लाने के मामले में भी उदारता से काम लिया है।

प्रस्तुत संग्रह में हिमाचल प्रदेश के पांच कवि संकलित हैं जिनके लेखन की तुलना अन्य संकलित कवियों से सहज ही की जा सकती है।

संकलन के प्रमुख कवियों में उदय प्रकाश, केशव, रमेश दवे, राजेश जोशी, विनोद भारद्वाज आदि हैं। उदय प्रकाश की कविता 'नींव की ईंट हो तुम दीदी' संग्रह की सर्वश्रेष्ठ रचना है। यह एक शिष्ट व्यंग्योक्ति है जिसमें रचनाकार ने एक ऐसी प्रतिलोकवार्ता (एण्टीफोकलोर) का निर्माण किया है जिसमें 'बोली' भी है और मार्मिक 'ठिठोली' भी। कविता में निर्मित यह तत्त्व उदारचरितता का सृजन करता है। दिल को सहज ही छू लेने वाला पर्त-दर-पर्त खुलता यह सन्दर्भ देखिए—जैसे एक व्यापक फलक पर बनी कोई तीन आयामी अमूर्त पेंटिंग हो :

चट्टान थीं तुम दीदी / और तुम्हारी चढ़ती उम्र के ठोस सन्नाटे में
हमीं थे छोटे-छोटे पक्षी
उड़ते तुम्हारे भीतर
वहां जहां झूले पड़े थे हमारी खातिर
गुड्डे रखे थे हमारी खातिर
हमारी गेंदें वहां / गुम हो गयी थीं

इस कविता को पढ़कर स्पेनी और लातीनी कवियों की वे कविताएं सहज ही संस्मरण हो आती हैं जिनमें उन्होंने लोकगाथाओं को भरी-पूरी कलात्मकता के साथ चित्रित किया है गार्सिया लोर्का, पेब्लोनेरुदा, ऑकेटवियोपाज और माइकिल श्मिट ऐसे ही कवियों में हैं। ऐसी रंगत हिंदी में कम ही देखने को मिलेगी। तुलसी रमण ने 'भेड़' में वह कोशिश की है। बुजुर्गों की बात के सहारे भेड़ का मनोविज्ञान और उसकी जीवन-स्थिति इस कविता में एक साथ उभरे हैं। भेड़ को जनता, सिंहासन और शासक से जोड़कर कवि ने अपने लिए एक परिवेश-सम्मत व्यंग्योक्ति का निर्माण किया है और इस प्रकार एक निरीह ग्रामीण जानवर सम-सामयिक स्थिति के मॉडल के रूप में उभर कर सामने आया है :

...पर निरीह भेड़ ठगी-सी
बस ऊन होती है
या खून

'असम असम असम' में रमेश दवे ने दो विपरीत स्थितियों को चित्रित किया है : तूफान से पहले और तूफान के बाद। शांत खाड़ी में जैसे एक बवण्डर उठ खड़ा हुआ हो। असम के सहज आंचलिक सौन्दर्य को लीलता हुआ भयानक बवण्डर। आतंक का एक काला दृश्य यहां प्रस्तुत है :

'अ' अक्षर की तरह गोल आंखें
पृथ्वी की तरह गोल-गोल चेहरों पर
लिख रही बन्दूक से बारहखड़ी
और बदल गयी सघन पेड़ों की छांह
फौजी वर्दियों में

तन्जिया लहजा दवे की दोनों कविताओं में है। दवे ही नहीं, संकलन की अन्य अनेक कविताओं में इसे सहज ही लक्षित किया जा सकता है जैसे :

(क) अभी वह मेरे सीने से गुज़रेगी
मेरे भीतर से एक कुर्सी निकलेगी
राजा के बैठने के लिए (विश्वनाथप्रसाद तिवारी / आरा मशीन)

(ख) जंगल का स्वभाव है / हर कहीं उग आना
अपनी छाया में पलने वाली
ज़हरीली बूटियों की / पीठ थपथपाना
(केशव / जंगल)

(ग) ऐसे सुझावों के कितने ही बण्डल
रोज़ बन्दरगाहों पर उतरते हैं
हवाई अड्डों पर धम्म से आ पड़ते हैं
माल-गोदामों में डैमरेज तले सड़ते हैं
(ज़िया सिद्दीक़ी / एक सुझाव मेरा भी)

प्रायः सभी कविताओं में ज़िया का स्वर तुर्की के कवि नाज़िम हिकमत की तरह लगा। अन्याय के खिलाफ़ शिकायत और बेईमानी का पर्दाफाश करना कवि का मूल प्रयोजन है। वह कविता को 'डेकोरेटिव पीस' नहीं, लड़ने की तलवार मानकर चलता है। सब कुछ उसकी आंखों के सामने से रोज़-ब-रोज़ गुज़रता है। लेकिन वह कुछ नहीं कर सकता, सिवा पर्दा हटाने के उसकी हर अभिव्यक्ति एक समस्या है; एक विवशता :

(क) किसी को भी नहीं मालूम
वो जो सड़कों के रास्ते आ रहे हैं
अपने सुझावों की गठरिया / कहां उतारें

(ख) आमतौर पर यह होता है
सिर्फ रात बांटती है / द्वीप का दर्द
लेकिन सुबह तक / कुछ कहते न कहते
द्वीप हो जाता है सर्द

विनोद भारद्वाज अपनी संकल्पना में पूरी तरह ब्रेख्तियन हैं। 'जूते की बात' की 'लोटे के सपने' से सहज ही तुलना की जा सकती है। ब्रेख्त की तरह ही वह भी अपने प्रतीकों को आम ज़िन्दगी से उठाते हैं और उसके इर्द-गिर्द एक गाथा का ताना-बाना बुनते हैं जो अनेक स्थलों पर स्वत: ही मार्मिक और विडम्बनात्मक बन जाता है :

(क) यह एक दिन अपने कुछ इस तरह से गिरने के इन्तज़ार में है
कि एक अच्छी आवाज़ हो
अम्मा जी गुड़ की गरम चाय उसमें
बरहमी से उड़ेल न दे
(इच्छा)

(ख) अस्पताल में ऑक्सीजन पर पड़ी रही
दस दिन वह लड़की
किसी लापरवाह व्यक्ति के बारे में कुछ बुदबुदाती
(टाइप करने वाली)

(ग) मैं छोड़ जाना चाहता हूं / इसे सुरक्षित
मैं नहीं जानता
कि कौन लोग इस तक पहुंच पायेंगे
क्या वे नहीं एक दिन
बेरहमी से मार दिए जायेंगे

विरोध और व्यंग्य आज की कविता के आवश्यक अंग हैं। लेकिन कथन को आकर्षक बनाने के लिए उसे कलात्मक और सटीक ढंग से पेश करना जरूरी है। इस संकलन में अनेक स्थानों पर कवियों ने कुछ मारक पंक्तियां लिखी हैं लेकिन ऐसी पंक्तियां छुटपुट बिखरी होने से पूरी रचना को नहीं उभार पातीं।

भगवत रावत गहरी थकान के क्षणों को 'कविता के देह में रहने का समय' बताते हैं। कविता का देहधर्मी होना न केवल एक विलक्षण उक्ति है बल्कि इन्सान का अपनी मिट्टी के करीब आना भी है। विवशता इन कविताओं का गूढ़ स्वर है जो बार-बार हर कविता में कहीं न कहीं उभर आता है जैसे :

(क) शायद चले जाना होगा/अपनी संवेदना की लय पर
नाचते-नाचते
अपनी ही धड़कन की डुगडुगी सुनते-सुनते
ऐसे ही एक दिन
जैसे और कितने चले गए
अपने अन्दर ही अन्दर/चीखते-चीखते (वह)

(ख) अपने दु:खों के अंधेरे में/जो कुछ उठाता हूं
अपने आसपास से
वह तुम्हारा चेहरा ही होता है
हर बार
मेरी कमजोर उंगलियों पर सधा (घिरा हुआ दुखों से)

राजेश जोशी ने भोपाल के कुछ हृदय स्पर्शी चित्र खींचे हैं। इन चित्रों में से गुजरते हुए इस सदी की सबसे बड़ी त्रासदी का एहसास हू-ब-हू जगने लगता है जैसे :

(क) कुछ दिनों बाद वहां घास उग आएगी
कुछ दिनों बाद मिट्टी कड़ी हो जाएगी वहां
नमक और फास्फोरस की मात्रा बढ़ जाएगी
जहां दफनाए गए थे
दो दिसम्बर की रात मारे गए लोग

× × ×

कुछ दिनों बाद बिना पहचान वाले मृतकों का पोस्टर
कहीं दिखेगा शहर में

(कुछ दिनों बाद)

(ख) अब यहां कोई नहीं रोता
सिर्फ झरी हुई पत्तियां रात में सरसराती हैं

(कोई नहीं रोता)

'शहद जब पकेगा' में आत्मीयता का भाव उभर कर सामने आया है। हर रूपक लोक-वार्ता से ग्रहण किया गया है। दर्जी, बजाज, सेमल, शहद संतरे का पेड़, चिड़िया, कपास आदि कुछ ऐसे शब्द हैं जो कविता को सही रूप में परिवेश से जोड़ते हैं। इस कथन में कितनी आत्मीयता है :

शहद का छत्ता है तुम्हारा प्यार
हल्की-हल्की आंच के धुएं में
जिसे पकायेंगे हम
तुम छुट्टी ले लो कुछ दिन
और साथ-साथ बाजार कर लो
मधुमक्खियों से बोलो
निपटा लेंगी घर का कामकाज
और शहद भी पक जाएगा तब तक।

[कविता खण्ड : संपादक-केशव, प्रकाशक : किताबघर, गांधीनगर, दिल्ली-110031, पृष्ठ : 144 मूल्य : 50 रुपये।]

(पृष्ठ 85 का शेष)

है। हमें अपनी तलवार का ही भरोसा है। इसका प्रताप बड़ा प्रचंड है।"

इस युद्ध में दिखाये गये प्रचंड प्रताप के कारण ही इसके बाद अंग्रेज़ों और रणजीत सिंह ने अपनी-अपनी फौज़ों में नेपाली पलटनें खड़ी कीं। कलुंगा का वीर नायक, बलभद्र, रंजीत सिंह की सेना में भर्ती हुआ।

इस युद्ध के नतीजों के तौर पर जहां शिमला हिल्ज़ का क्षेत्र अंग्रेज़ों के अधिकार में आया। ऐसा होने से अंग्रेज़ों के सिखों और नेपालियों के दरम्यान आ जाने से, सिखों और नेपालियों के उनके खिलाफ इकट्ठा होने के मौके समाप्त हो गए। अंग्रेज़ों और रणजीत सिंह के दरम्यान सतलुज नदी की सीमा मैदानों से बढ़कर पहाड़ों में जा पहुंची। पहाड़ी राजाओं को अपने खोये हुए इलाके संरक्षित रियासतों के रूप में वापिस मिले। अंग्रेजों को शिमला और कोटगढ़ जैसे मनचाहे ठंडे स्थान मिले और उन्हें तिब्बत को जाने वाला रामपुर बुशहर का व्यापार मार्ग भी मिल गया। इसके साथ ही हिमालय और उसके पार की जल विभाजन रेखाएं उत्तर में अंग्रेज़ी राज्य की प्राकृतिक सीमाएं बन गईं।

[सिविल लाइनज़ धर्मशाला, हि० प्र०]

आयोजन

वत्सल निधि की व्याख्यानमाला

रस सिद्धांत की शव परीक्षा

हिंदी के यशस्वी साहित्यकार अज्ञेय जी द्वारा स्थापित 'वत्सल निधि' की ओर से प्रतिवर्ष आयोजित श्री हीरानंद शास्त्री स्मारक व्याख्यान-माला के अन्तर्गत सातवीं व्याख्यान श्रृंखला के लिए इस बार पिछले (20-23 दिसम्बर) तक स्थानीय साहित्य अकादमी सभागार में रस सिद्धांत जैसे गंभीर साहित्यिक महत्व के विषय पर व्याख्यान का आयोजन किया गया। इस विषय पर चारों दिन व्याख्यान दिये—डा० प्रेमलता शर्मा ने। डा० शर्मा संगीतशास्त्र और रस सिद्धांत के क्षेत्र में एक लंबे अर्से से काम करती आ रही हैं। इसके पूर्व वह काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के संगीत विभाग की आचार्या रही हैं और फिलहाल इंदिरा कला-संगीत विश्वविद्यालय खैरागढ़ (मध्यप्रदेश) में उपकुलपति हैं। लेकिन चारों दिन उन्होंने इस गंभीर महत्वपूर्ण चर्चा में नीरस, उबाऊ और प्राध्यापकीय शैली में बहुत पिटा हुआ व्याख्यान दिया। कहना न होगा कि वात्स्यायन जी द्वारा आयोजित अब तक आयोजित व्याख्यानों की श्रृंखला में यह सबसे कमज़ोर व्याख्यान माला थी।

व्याख्यान के विषय इस प्रकार थे—रस का मूल, रस विनियोग का विराट रूप, ध्वनि व्यंजना और रस, आज रस की प्रासंगिकता। इन चारों विषयों पर डा० श्रीमती शर्मा की स्थापना यह थी कि रस काव्य का प्राण है। उसे अस्वीकार करके किसी भी काल में कविता की सृष्टि संभव नहीं। आदि कवि बाल्मीकि का उदाहरण देते हुए उन्होंने कहा कि "उन्होंने भी कविता की प्रेरणा करूणा से अर्थात् करुण रस ही से प्राप्ति की। कविता में यह करुण रस सभी रसों का उत्स है। इसलिए कविता में रस उतना ही जरूरी है जितनी जीवन के लिए कविता।

श्रीमती शर्मा ने कहा कि "रस का क्षण अखंडता का क्षण है। आज मनुष्य की बिखरी हुई चेतना को समेटने के लिए इन महनीय क्षणों की दुनिया में जाना बहुत ही ज़रूरी है। रस के अनुभव का क्षण ऐसा होता है जिसमें कुछ भी बोध नहीं होता। आज की परेशान दुनिया से त्रस्त मन को इसी शांति की जरूरत है। इसका उद्देश्य शांति से आगे नहीं है। आनंद भी नहीं, क्योंकि रस अपने आप में आनंद का समुच्चय है। उन्होंने आगे कहा कि हम अक्सर मेरा दुख और मेरा सुख की बातें करते हैं। क्या ऐसा संभव नहीं कि हम सिर्फ एक क्षण के लिए अपने-अपने अहम् के दायरे से अपने को अलग कर लें और एक विराट अहम् में अपने को अंदर तक समाहित

कर लें। देश और काल से परे मनुष्य समग्रता और अखंडता में तभी जा सकता है जब वह अपने सीमित अहम् का रस के विराट क्षणों में विलय कर ले। तभी मनुष्य अपने कसकते दुखों के वेग से मुक्ति पा सकता है।"

आज भी कविता में रस की न केवल प्रासंगिकता बल्कि उसकी अनिवार्य आवश्यकता पर ज़ोर देते हुए श्रीमती शर्मा ने कहा कि "आज हम जितनी चाहें उतनी अमूर्त कविता लिख लें (शायद श्रीमती शर्मा इस बात से वाकिफ नहीं हैं कि आज की कविता में अमूर्तन बिल्कुल नहीं है। यह अमूर्तन नई कविता के दौर में था जो आज से बीस साल पहले समाप्त हो चुका है।) लेकिन उसमें कोई न कोई चित्तवृत्ति तो होगी ही, चाहे वह चित्तवृत्ति का आक्रोश ही क्यों न हो। लेकिन रचनाकार का कला में यह उद्देश्य होना चाहिए कि पाठक या श्रोता रचना के आक्रोश में भी शांति महसूस करें। आक्रोश से हमारे रचने की शुरूआत हो सकती है लेकिन श्रेष्ठ रचना के लिए ज़रूरी है कि वह पाठक के चित्त को मथ कर अखंडता का बोध कराए। चाहे इस रस दशा को कोई भी नाम दे दिया जाय। नौ रसों में रस शास्त्र को नहीं बांधा जा सकता।"

सवाल यह है कि आज की कविता रस के इन प्रचलित फार्मूलों से बहुत पहले हटकर अपना रास्ता बदल चुकी है। उसके लिए कम से कम रस की जो प्रचलित अवधारणाएं हैं, उससे उसका कोई सरोकार नहीं। एक ज़माने में काव्य शास्त्रियों ने काव्य को 'ब्रह्मानंद सहोदर' कहा था और रस को उसका नियामक। लेकिन आज के ज़माने में जबकि हमारे जीवन मूल्य और साहित्य के बहुत सारे सरोकार बदल चुके हैं और कविता भी अब वह नहीं है जो हमारे खाली क्षणों के उपयोग की कोई चीज़ हो। आज कविता साहित्य की दुनिया में वह विधा है जो सामाजिक सच्चाइयों को बेनकाव करके सच्चे अर्थों में मनुष्य को एक बेहतर मनुष्य बनाना चाहती है। यह तभी संभव है जब एक बेहतर समाज संभव हो। कविता में अनुभव मुख्य है—और आज अनुभव रस की प्रचलित चासनी से संभव नहीं। इसलिए रस के अविकसित और जंग लग गए औजार का आज की कविता में इस्तेमाल करना संगत नहीं। डा० श्रीमती शर्मा का इस बात पर ज़ोर देना बेमानी है कि आज की कविता रस से अलग नहीं हो सकती।

शायद श्रीमती शर्मा को पता हो कि आज से कोई चालीस साल पहले जब प्रयोगवादी कविता का आंदोलन चला तो रससिद्ध आलोचक डा० नगेन्द्र ने अज्ञेय की कविताओं पर प्रश्नचिह्न लगाते हुए कहा था कि 'चूंकि इन कविताओं में रस नहीं है। इसलिए मैं अज्ञेय की कविता को कविता मानने से इंकार करता हूं' और डॉ० नगेन्द्र आज इस दौर की चालीस साल की कविता पर खामोश बैठे अपना सिर धुन रहे हैं। हालांकि बाद में उन्होंने अपने रस सिद्धांत में संशोधन करते हुए कहा कि अब इसमें एक बुद्धि-रस भी जोड़ना ज़रूरी है। इस तरह उन्होंने बुद्धि रस को स्वीकार करते हुए अपने ढंग से नई कविता को आंशिक रूप से स्वीकृति दी।

अंतिम दिन अपने वक्तव्य में श्रीमती शर्मा रस सिद्धांत के फार्मूले को लेकर विभिन्न काव्य शास्त्रियों—भरतमुनि, मम्मट, आनंदवर्धन आदि के मतों का पिष्टपेषण करते हुए कविता में रस के महत्व को इस तरह समझाया मानों एम० ए० के छात्र क्लास में नोटिस ले रहे हों। प्रारंभ में जिस तरह अज्ञेय जी ने उनका परिचय दिया उससे लगता था कि वे चार दिन तक कुछ गंभीर बात करेंगी। लेकिन श्रोताओं को कुछ भी ऐसा सुनने को नहीं मिला।

अंतिम दिन सभा के अध्यक्ष डॉ० विद्यानिवास मिश्र ने कहा कि "रस को संस्कार के रूप में ग्रहण करना चाहिए। आज अखंडता के क्षण से जुड़ने की सबसे ज्यादा ज़रूरत है। यह

क्षण हमारे जीवन, काव्य और संगीत में दुर्लभ होता जा रहा है। इस आयोजन के अंतिम दिन रस-सिद्धांत के एक ज़माने में धाकड़ आलोचक डॉ० नगेन्द्र भी दिखे पर वे डॉ० प्रेमलता शर्मा के भाषण शुरू होने के पन्द्रह मिनट बाद ही उठकर चले गए। उनसे जब एक पत्रकार ने पूछा कि रस के बारे में श्रीमती शर्मा के विचारों के प्रति आपकी क्या प्रतिक्रिया है ? तो डॉ० नगेन्द्र ने अपनी टिप्पणी करने से साफ इंकार कर दिया और कहा कि "मैंने उनके सभी भाषण नहीं सुने हैं इसलिए मैं कुछ नहीं कह सकता।"

एक ज़माने में नई कविता के तेज तर्रार भाष्यकार श्री लक्ष्मीकांत वर्मा भी इस आयोजन में उपस्थित थे। उन्होंने पता नहीं किस तर्क पर डॉ० प्रेमलता शर्मा के विचारों से अपनी सहमति जताई। यह ठीक है कि वह लघुमानव और अज्ञेय के क्षणवाद के बहुत हिमायती आलोचक रहे हैं, किन्तु नवरस से उनके काव्य सिद्धांत का कहीं मेल नहीं दीखता। अकविता के पुरस्कर्ता और कविता में सामाजिकता को दफ़न कर देते वाले जगदीश चतुर्वेदी ने यह बात नोट कराई कि यहां रस की अभिव्यक्ति जिस तरह से की जा रही है, उससे मैं सहमत नहीं हूं। यों यह अलग बात है कि आक्रोश की सामयिक काव्यवृत्ति को लेकर ही कविता में रस की सृष्टि संभव है।

—डॉ० अरविन्द कुमार त्रिपाठी

शिमला में दूसरा नाटक उत्सव

पिछले दिनों द्वितीय नाटक उत्सव का आयोजन हिमाचल प्रदेश के भाषा एवं संस्कृति विभाग द्वारा शिमला में किया गया।

उत्सव की प्रथम प्रस्तुति 'सामानांतर' (जयपुर) की ओर से 'जनता का दुश्मन' थी। नाटक तथाकथित समाज सेवी संस्थाओं तथा राजनेताओं पर तीक्षण प्रहार था। गंधक के चश्मों को लेकर एक डाक्टर की रिपोर्ट पर मची हलचल से पत्रकार समाजसेवी, राजनेता सभी प्रभावित हो जाते हैं। अंतत: पर्यटन के आकर्षण ये चश्मे शहर सुधार तथा पालिका की राजनीति के दाव-पेंच के बीच डाक्टर की लाचारी बन जाते हैं।

सुनील सिन्हा के निर्देशन में मंचित किया गया यह नाटक आरंभ में कुछ शिथिल रहा, किंतु बाद में प्रभावी होता गया। स्थानीय नेता के रूप में अवस्थी की भूमिका जीवंत रही।

दूसरा नाटक 'प्रयास' (मंडी) की ओर से 'चोर के घर मोर' था। बेन जान्सन के मूल नाटक 'बोलपोन' का अनुवाद अरुण सहगल ने किया था। इसमें समसामयिक भारतीय परिवेश उभारा गया था। निर्देशक रूप उपाध्याय की मुख्य भूमिका के साथ लालाकी भूमिका में योगराज कश्यप ने प्रभावित किया। अच्छे कलाकारों के बावजूद रंगमंच की आधुनिक तकनीक तथा दृष्टि न होने के कारण बार-बार सैट बदलने पर दर्शकों को असुविधा हुई।

श्रीराम सेंटर, दिल्ली द्वारा दो नाटिकाएं प्रस्तुत की गईं, पहली हिमाचल के ही कहानी-

कार केशव की कहानी 'खच्चर' तथा दूसरी फणीश्वरनाथ रेणु की कहानी 'रसप्रिया' पर आधारित थी।

'खच्चर' में मुख्य पात्र लच्छू की भूमिका में विजयकुमार शुक्ला ने अच्छा अभिनय किया। लोक शैली में प्रस्तुत यह नाटिका खूब सराही गई। दूसरी कहानी का नाटकीकरण एक दुरुह कार्य था। किंतु जफर संजारी ने मृदंगिया की मुख्य भूमिका में सबको बांधे रखा। कहानी को फ्लैश बैक के जिस ढंग से दिखाया गया, वह सराहनीय था। मोहना की भूमिका में मीना जोशी ने रंग जमाया। दोनों नाटिकाओं का निर्देशन संजीव सहाय ने किया था।

अंतिम नाटक था मंच (दिल्ली) की ओर से 'तांडव'। वर्तमान छात्र संगठनों तथा उनकी चुनाव नीति की विद्रूपदाओं का इस नाटक में भंडाफोड़ किया गया था। किस तरह भिन्न धाराओं के नेताओं द्वारा प्रेरित छात्र दल आपस में भिड़ते हैं। छज्जे के गिरने के बेबुनियाद जैसे मुद्दे पर राजवीर तथा राणा (छात्रनेता) हिंसा पर उतारु हो जाते हैं। प्रोफेसर लोग मूक और लाचार दर्शक होते हैं। अपने स्वार्थ के लिए छात्रों के पीछे लगी शक्तियां उन्हें आपस में भिड़ाती है और स्वार्थवश ही एक कर देती हैं।

छात्रनेता राजवीर (सुमंत शधाई) तथा राणा (शृंग ऋषि) ने दर्शकों को प्रभावित किया। अन्य कलाकारों में युद्धवीर (राजकुमार जुत्शी) तथा कामरेड (संजीव मेहरा) भी सफल रहे।

इस बार यह उत्सव काली बाड़ी हाल में 10 नवम्बर से 14 नवम्बर, 1986 तक मनाया गया। यद्यपि उत्सव की सूची में शामिल 'इप्टा' कानपुर तथा 'मेघदूत' लखनऊ आदि दल पहुंच नहीं पाये तथापि प्रतिदिन हाल दर्शकों से भरा रहा। दर्शकों में एक अनुशासन देखा गया। हाल में बिजली के चले जाने तथा मध्यांतर के बावजूद दर्शक शांत बैठे रहे। ✯

पहाड़ी दिवस समारोह

रचनात्मक संकल्प का अभाव

गांधी भवन मंडी में इस बार राज्य स्तरीय पहाड़ी दिवस समारोह का आयोजन 29 तथा 30 अगस्त को भाषा एवं संस्कृति विभाग द्वारा किया गया। प्रतिवर्ष प्रथम नवम्बर को पहाड़ी दिवस के रूप में मनाया जाता है। प्रथम नवम्बर, 1966 को पंजाब के कुछ पहाड़ी इलाके भाषायी एवं सांस्कृतिक समानता के आधार पर हिमाचल में मिलाए गए थे और इसी के साथ विशाल हिमाचल का गठन हुआ था। इसी उपलक्ष्य में इस दिन को पहाड़ी भाषा-संस्कृति दिवस के रूप में मनाया जाता है। इस वर्ष प्रथम नवम्बर को दीपावली होने की वजह से 'पहाड़ी दिवस समारोह' उक्त तिथियों में पहले ही आयोजित करने का निर्णय लिया गया। 29 अगस्त की सायं प्रदेश के स्वास्थ्य राज्य मंत्री श्री कौलसिंह ठाकुर ने ज्योति जलाकर समारोह का उद्घाटन किया। उसके तत्काल बाद पहाड़ी कवि सम्मेलन हुआ। इस सम्मेलन में प्रदेश के विभिन्न भागों के लगभग तीस कवियों ने अपनी-अपनी बोलियों में कविता पाठ किया। कवि सम्मेलन की अध्यक्षता स्थानीय वयोवृद्ध विद्वान भी भवानी दत्त शास्त्री ने की। मंडी नगर की यह विशेषता रही है कि यहां इस तरह के आयोजनों में श्रोताओं का अभाव नहीं रहता। इस कवि सम्मेलन के दौरान भी गांधी भवन भरा रहा। श्री कौलसिंह ठाकुर ने ऐसे समारोह ग्रामीण क्षेत्रों में आयोजित करने का सुझाव दिया।

तीस अगस्त की प्रातः लेखक गोष्ठी शुरू हुई जिसकी अध्यक्षता श्री बृजकुमार अग्रवाल ने की। इस गोष्ठी में डॉ० गौतम व्यथित ने 'पहाड़ी साहित्य : समस्याएं एवं समाधान' विषय पर अपना पत्र पढ़ा, जिसमें पहाड़ी साहित्य के विकास में आने वाली बाधाओं और उनके समाधानों को लेकर विस्तृत चर्चा की गयी थी।

इस पत्र-वाचन के बाद लगभग पन्द्रह लेखकों ने चर्चा में भाग लिया। इधर होने वाली इस तरह की गोष्ठियों में एक बात बराबर अखरती है कि अधिकांश वक्ता विषय की सीमाओं को लांघकर सुझाव, आशीर्वाद और शिकायत की दुनिया में पहुंच जाते हैं और यह भूल जाते हैं कि आखिर साहित्य-संस्कृति के क्षेत्र में जो कुछ करने को है और जो कुछ किया जा सकता है उसका सही उत्तरदायित्व साहित्यकारों और संस्कृति कर्मियों का ही है। जब रचनाकार लिखेंगे और अपनी रचनात्मकता में सक्रियता के साथ तराश लाएंगे तभी प्रोत्साहन और प्रचार-प्रसार भी उचित व संभव हो सकेगा।

इस बहस में भी काफी कुछ वही घिसी-पिटी बातें हुईं। कुछ लोग पुरस्कारों को चर्चा के केन्द्र में ले आए तो कुछ 'बजट पर भी बोले'। लेकिन कुछ ऐसे भी लोग थे जिन्होंने विषय को छूते हुए बात की। ऐसे लोगों में **अमरदेव आंगिरस** ने कहा कि पहाड़ी एक लोक भाषा है, पौराणिक भाषा वाले गुण इसमें भी हैं। इसे साहित्यिक भाषा का रूप देने का उत्तरदायित्व रचनाकारों का है। **कमल कुमार प्यासा** का विचार था कि इस भाषा की समृद्धि के लिए इसके प्राचीन स्रोतों जैसे पांडुलिपियां, प्रस्तर लेख व सिक्के आदि को लेना चाहिए। उन्होंने विभाग द्वारा आयोजित टांकरी की कक्षाओं का समर्थन करते हुए अनुरोध किया कि समूचे लिपि विज्ञान का प्रशिक्षण दिया जाना चाहिए।

डॉ० नीलकणि उपाध्याय का मत था कि पहाड़ी की जगह हिमाचली शब्द का प्रयोग किया जाना चाहिए। उन्होंने आगे कहा कि पहाड़ी के रचनाकारों में प्रतिवद्धता तथा संकल्प का अभाव है। हमें भाषा की अपेक्षा संस्कृति पर अधिक बल देना चाहिए। डॉ० कांशीराम आत्रेय पहाड़ी की बर्तनी के मानकीकरण पर ज़ोर दे रहे थे। उनकी यह बात एक तरह से प्रयोगात्मक ज़मीन पर उतरने जैसी थी। लेकिन डॉ० प्रत्यूष गुलेरी सीधे पहाड़ी भाषा का स्वरूप निश्चित करवाने के पक्ष में थे। हेमकांत कात्यायन की यह बात सही है कि पहले पहाड़ी के लोक-साहित्य की पहचान करायी जाए और इसके रचनात्मक साहित्य के स्तर को हिन्दी के बराबर रखकर देखा जाए। यह बात इस दृष्टि से भी ठीक है कि यदि हम लोक भाषा में रचनात्मक स्तर पर अधिक गहरे नहीं उतर पाते तो कम से कम हिन्दी के बराबर तो होना ही चाहिए। वैसे लोक भाषा से यह अपेक्षा की जानी चाहिए कि वह जीवन में सबसे गहरे उतर सके। विभाग के उपनिदेशक श्री एम० आर० ठाकुर ने विषय-पत्र पर बोलते हुए कहा कि यह पत्र अधूरा है। क्योंकि इसमें समस्याओं और समाधान का विवरण तो दिया गया है लेकिन पहाड़ी में लिखे गये विभिन्न विधाओं के साहित्य का विवेचन नहीं हुआ है। इसके बिना बात हवाई रह जाती है। उनका कहना था कि पहाड़ी में गद्य साहित्य नहीं के बराबर लिखा जा रहा है जबकि किसी भी भाषा की साहित्यिक समृद्धि के लिए इसका विकास होना जरूरी है।

अपने अध्यक्षीय भाषण में श्री बी० के० अग्रवाल ने कहा कि पहाड़ी साहित्य को व्यापक राष्ट्रीय संदर्भों में रचा और देखा-परखा जाना चाहिए। संभवतः उनके कहने का तात्पर्य यही था कि एक घाटी की बात इसी में नहीं रहनी चाहिए और बात महज बात ही रह जाए तो भी क्या लाभ।○

उषा-अनिरुद्ध चित्र-सीरीज़ कथा

पिछले अंक में आपने पढ़ा कि उषा के कक्ष में किसी युवक के होने की सूचना प्रहरियों ने बाण को दी।

हुआ यह कि जब उषा अपने कमरे से बाहर आयी तो वह बहुत संतुष्ट दिखाई दे रही थी। उसके मुख पर यह नयी दीप्ति देखकर प्रहरियों को संशय हो गया। वे बाण के पास गए और कहा कि राजकुमारी के कक्ष में कुछ अभूतपूर्व बात हो गयी है। उन्होंने कहा, "महाराज, हमें विश्वास है कि कोई आदमी वहां हैं। हमें यकीन है कि किसी ने भी प्रवेश द्वार नहीं लांघा है। फिर भी किसी जादूई या रहस्यमय गोपनीयता से कोई राजकुमारी के कक्ष में प्रवेश कर गया है। अब राजकुमारी का व्यवहार कुछ वैसा ही है जैसा प्रेम प्रसंग से गुज़र रही किसी युवती का होता है। महाराज, इसमें कोई संशय नहीं कि महल के भीतर एक अजनबी रह रहा है। हम यह निश्चय नहीं कर पा रहे कि क्या किया जाए। लेकिन ज्यादा देर हम चुप भी नहीं रह सकते। हमारे पास इसके अतिरिक्त कोई प्रमाण भी नहीं कि इन दिनों राजकुमारी पहले से अधिक प्रसन्न चित्त और पुलकित-सी दिखायी दे रही हैं। उसका मुखड़ा कमल की तरह खिल रहा है और उसके कपोल गुलाब की पंखुड़ियों जैसे लग रहे हैं। आंखों में कोई भीतरी चमक आ गयी है और जब वह चलती है तो ज़मीन कम ही छूती है। आज तक हमने उसे इतना खुश कभी नहीं देखा।"

प्रहरियों की यह बात सुनकर बाण एक साथ ही खिन्न और क्रुद्ध हुआ। खिन्न इसलिए कि उसकी बेटी इतनी रहस्यपूर्ण निकली और क्रुद्ध इसलिए कि हर द्वार पर सैकड़ों प्रहरियों के रहते भी महल में कोई आदमी घुस आया है। गुस्से में वह उषा के कमरे की ओर बढ़ा। दरवाज़े पर ही वह हैरानी में ठिठक गया। उसकी बेटी के साथ बिस्तर पर एक इतना सुंदर युवक बैठा था जैसा उसने पहले कभी नहीं देखा था। उसका चेहरा सांवला और देदीप्यमान था और आंखें चमकीली और मृदु। वह उषा की ओर स्निग्धता से हंस रहा था। जैसे ही जवाब में उषा ने अपना सिर झुकाया, बाण ने इस युवा युगल के प्रेम प्रसंग को समझ लिया।

यह सब देखकर बाण के क्रोध की सीमा न रही। उसने प्रहरियों को आदेश दिए कि इसे पकड़ लो और इसी के साथ भड़क कर खुद भी कक्ष के भीतर घुस गया। इस तरह अनिरुद्ध अचानक पकड़ा गया। उसने बहादुरी के साथ बाण का सामना किया और उषा यह दृश्य गवाक्ष से बड़ी उतावल में देखने लगी।

क्रमशः

अंतिम पृष्ठ

प्रदेश की ऊंची पर्वत श्रृंखलाओं में गर्मियों तक बर्फ़ धीरे-धीरे पिघलती रहती है। एक घाटी से दूसरी घाटी में प्रवेश करने के लिए जो 'पास' यानी घाटी-मार्ग गुज़रते हैं उनके आस-पास के भू-दृश्य गर्मियों में शाद्वलों और बर्फ के गलेशियरों के साथ-साथ होने से अपना विलक्षण आकर्षण रखते हैं, 'कुंजम पास' के निकट का यह एक ऐसा ही भू-दृश्य है।
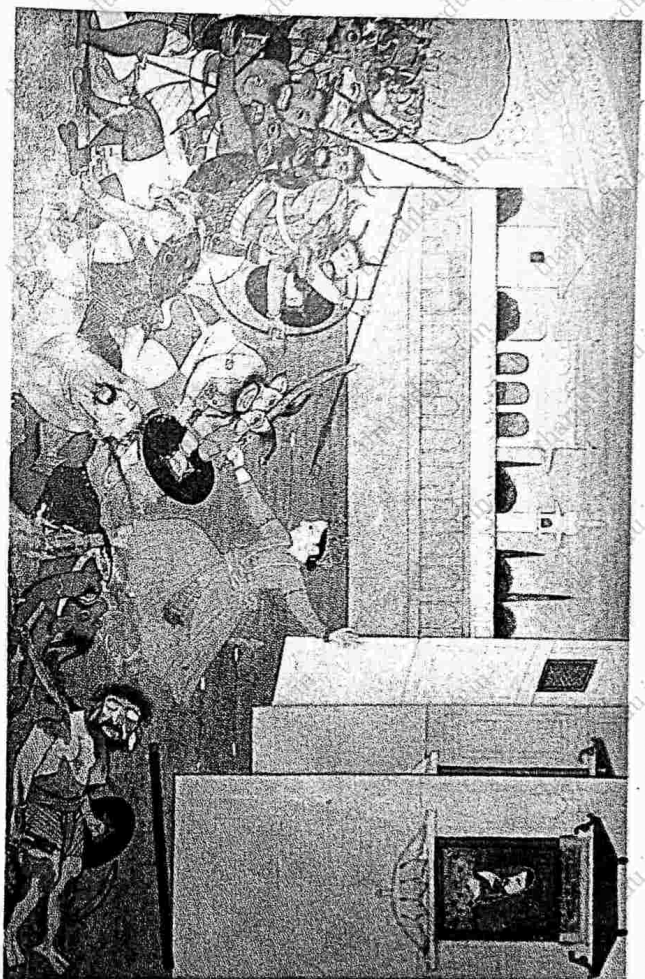
सेना को पराजित करता अनिरुद्ध और देखती उषा भूरिसंह संग्रहालय में सुरक्षित उषा-अनिरुद्ध सीरीज (१७७०-१७७५) का ग्यारहवां चित्र।

निदेशक, भाषा एवं संस्कृति विभाग, हिमाचल प्रदेश, शिमला-१७१००१ द्वारा प्रकाशित तथा शांति मुद्रणालय, गली न. ११, विश्वास नगर दिल्ली-३२ द्वारा मुद्रित।